# संस्कार

लेखक एवं प्रकाशक

**धर्मपाल कपूर**

बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.

कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 0-9356301618

**संस्करण : 2017**
**प्रतियाँ : 1000**

**धर्मपाल कपूर**
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11, पंचकूला
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 0-9356301618

टंकण एवं साजसज्जा : **अभिनव इंटरप्राइजिज, मो. +91-94683 40497**
मुद्रक : **यू०आर०बी० प्रिंटिंग प्रैस, शैड नं. 2, रतपुर कॉलोनी, पिंजौर,**
**मो. 9466111730, 9466112730**

# भूमिका

मेरी प्रिय आत्माओ ! हम देखते हैं कि आज हमारे समाज में भौतिकवाद, भ्रष्टाचार, पाखंड, बेइमानी, रिश्वतखोरी, आलस्य आदि बुराइयों का बोलबाला है। इसका मुख्य कारण है कि अधिकतर गृहस्थी अपने बच्चों को न ही संस्कार देते हैं और न ही समय। इसी कारण आज परिवारों में आपसी प्रेम न रहकर घृणा, स्वार्थ और महाभारत संग्राम पनप रहा है। इसके विषय में उर्दूशायर जाफ़र जटल्ली फरमाते हैं–

**न यारों में रही यारी, न भाइयों में वफादारी।**

**मुहब्बत उठ गई सारी, अजब यह दौर आया है।।**

अतः इसी कारण मैंने संस्कार नामक पुस्तक लिखी है ताकि माता-पिता इसका अध्ययन करें और अपने बच्चों को संस्कार व समय देवें ताकि समाज से वैमनस्य दूर हो सके तथा समाज का कल्याण हो सके। इसके अतिरिक्त मैंने **'भारतीय संस्कृति'** के विषय में लिखा है ताकि पाठकगण इसका अध्ययन करें क्योंकि आज हमारा समाज पाश्चात्य संस्कृति की ओर बड़ी तेजी से अग्रसर हो रहा है। मैंने प्रस्तुत पुस्तक में अधिकतर आध्यात्मिक विषयों को ही लिया है ताकि अध्यात्म की ओर पाठकों की रुचि बढ़े। इन विषयों का एक खूबसूरत गुलदस्ता मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। लीजिए अब आप भी इन रूहानी गुलदस्ते रूपी **'संस्कार'** के फूलों को देखिए और झूम-झूम कर आनंदविभोर हो जाइए।

प्रस्तुतः पुस्तक के लिखने में मुझे श्री लालचन्द चौहान, डॉ० जगदीश शास्त्री जी, रोशन लाल अग्रवाल जी, नरेश बंसल जी, जय किशन जी आदि ने सहयोग प्रदान किया है। अतः इन मित्रों का स्तवन न करना मेरी कृतघ्नता होगी। विशेषतः श्री डॉ० जगदीश शास्त्री जी ने इस पुस्तक के सम्पादन में विशेष योगदान दिया है।

मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि उनके बिना प्रस्तुत पुस्तक का वर्तमान रूप में संयोजन न हो पाता । मैं उन सभी लेखकों एवं कृतिकर्ताओं का भी अत्यंत धन्यवादी हूँ जिनकी कृतियों में से उद्धृत संदर्भ उद्धृत किये गये हैं ।

जिन अचिन्त्य शक्ति प्रभु की असीम अनुकम्पा से मैं अपने संकल्प को मूर्तरूप दे सका उसका भी कोटि-कोटि धन्यवाद करता हूँ । मैंने प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में पूर्ण सावधानी बरती है परन्तु संसार का प्रत्येक व्यक्ति अल्पज्ञ एवं अपूर्ण है । अतः यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो पाठकगण से क्षमा कहूँगा ।

धर्म पाल कपूर

तिथि : 28.2.2016

**(धर्मपाल कपूर)**
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
1135, सैक्टर 11, पंचकूला
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 0-9356301618

# प्रस्तावना

श्री धर्मपाल कपूर जी ने ''संस्कार'' नामक पुस्तक को लिखने का अति उत्तम एवं प्रशंसनीय कार्य किया है क्योंकि बिना सुसंस्कारों के आज हमारे समाज में ही नहीं सारे विश्व में भौतिकवाद, भ्रष्टाचार, पाखण्ड, अत्याचार, बलात्कार, आलस्य, बेइमानी, रिश्वतखोरी, फरेब, हेराफेरी, धोखाधड़ी, आदि बुराइयों को बिना किसी भय के किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति में ऋषि, महर्षियों के प्राचीन काल से ही बच्चों को संस्कारित किया जाता था। महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि में16 संस्कारों का जन्म से लेकर मृत्यु तक का प्रावधान किया है, जिनसे शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम संस्कारों का करना सब मनुष्यों को उचित है। जब तक इन संस्कारों का देश में प्रचलन था उस समय इतना अत्याचार और अधर्म नहीं था। जब से वेद विद्या का पठन-पाठन और संस्कारों को छोड़ा है, तब से देश क्या विश्व का पतन अर्थात् विनाश की ओर जा रहा है।

यह उचित है कि आज भौतिक विज्ञान ने बहुत तरक्की कर ली है, परन्तु उन संस्कारों का लोप हो गया जिनसे चरित्रनिर्माण हुआ करता था। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संस्कार विधि पुस्तक लिखी, जिसमें वेदानुसार सुसंस्कारकृत करने वाले कर्त्तव्यविधि अर्थात् संस्कार विधि (संस्कारों को विधिपूर्वक करने की विधि) लिखते हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है।

**1. गर्भाधान संस्कार**– शरीर का आरम्भ गर्भाधान से है इसलिए प्रथम संस्कार गर्भाधान संस्कार माना जाता है।

**2. पुंसवन संस्कार** – गर्भ स्थिति ज्ञान हुए समय से दूसरे व तीसरे महीने में है।

**3. सीमान्तोन्नयन संस्कार**– यह संस्कार गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट करने, आरोग्य, गर्भ स्थिर, उत्कृष्ट होने और प्रतिदिन बढ़ने के लिए किया जाता है।

**4. जातकर्म संस्कार**– जब पुत्र का जन्म होवे तब बालक का जरायु पृथक् करके साफ करके नए वस्त्र पहना कर पिता की गोद में बालक को देवें, तत्पश्चात् बच्चे के मुंह में घी, मधु बराबर मिला कर सोने की शलाका से ओ३म् अक्षर लिख कर, उसके कान में 'वेदोऽसीति' अर्थात् तेरा नाम वेद है, ऐसा कहें ।

**5. नामकरण संस्कार**– जिस दिन जन्म हो, उस दिन से लेके 10 दिन छोड़ कर 11वें वा 101 वें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरें ।

**6. निष्क्रमण संस्कार**– जहाँ का वायु स्थान शुद्ध हो, वहाँ भ्रमण कराना होता है ।

**7. अन्नप्राशन विधि**– छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करायें ।

**8. चूड़ाकर्म संस्कार**– इसको केश छेदन संस्कार भी कहते हैं, बच्चे के केश छेदन करना, इसे मुण्डन संस्कार भी कहते हैं ।

**9. कर्णवेध संस्कार**– कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे वा पाँचवें वर्ष उचित है ।

**10. अथोपनयन संस्कार**– जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा है । उससे आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से 11वें वर्ष में क्षत्रिय के, और जन्म वा गर्भ से 12वें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें ।

**11. वेदारम्भ संस्कारविधि**– जो दिन उपनयन का है, वही वेदारंभ का है ।

**12. समावर्त्तन संस्कार विधि**– जब वेदों की समाप्ति हो, तब समावर्तन संस्कार करें । वेद विद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थ विद्या की पूर्ति के पश्चात् विवाह करें ।

**13. विवाह संस्कार**– विद्या प्राप्ति के बाद सब प्रकार से शुभ, गुण, कर्म , स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीति युक्त होके विवाह करें । विवाह करके ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना, गृहस्थ का परम कर्त्तव्य है ।

**14. वानप्रस्थ संस्कार विधि**– सन्तानोत्पत्ति करने सन्तानों को विद्या आदि से योग्य बना, उनको आत्मनिर्भर करके वानप्रस्थ की तैयारी करना और मोह का त्याग करना ।

**15. संन्यास संस्कार विधि**– ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वानप्रस्थ होके, संन्यास लेना चाहिये, मोहादि आवरण पक्षपात छोड़के विरक्त होके सब पृथिवी के परोपकारार्थ विचरे । संन्यासी का विश्व कल्याण करना परम धर्म है । संन्यासी किसी एक देश के नहीं, विश्व के होते हैं ।

**16. अन्त्येष्टि संस्कार :–** अन्त्येष्टि कर्म शरीर के अन्त का संस्कार है । इससे आगे उस शरीर के लिए कोई संस्कार नहीं हैं । शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में शमशान अर्थात् मृतक कर्म है । इससे आगे श्राद्ध आदि कोई संस्कार कर्म नहीं है ये सब पाखण्डियों के रोटी रोजी के लिये चलाई गई कुप्रथायें हैं जिनसे समाज में अनेक कुरीतियां घर कर गई है । पाखण्ड में लोग फंसे हुए हैं, इन्हें पाखण्ड से निकालना कठिन कार्य है । यदि संस्कार प्रथा प्रचलित रहती तो पाखण्ड इतना नहीं पनपता ।

श्री धर्मपाल कपूर जी ने इस ''संस्कार'' पुस्तक में संस्कारों के करने से जो लाभ होता है उनको बड़े ही सुनिश्चित ढंग से प्रस्तुत किया है । ये उनका बड़ा ही सराहनीय कार्य है और सबसे बड़ा जो दान है विद्या का दान । वे पुस्तकें निःशुल्क वितरण कर पुण्य कमा रहे हैं । ईश्वर इन्हें लम्बी आयु प्रदान करे ।

**लालचन्द चौहान**
591, सैक्टर 12, पंचकूला (हरि.)
फोन : 0172-2563079
मोबाइल : 0-9814881501

# विशेष सूचना

1. स्वाध्याय, मनन और आत्मसात् ।
2. पाठकगण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् किसी भी स्वाध्यायशील मित्र को इसे देने की कृपा करें ।
3. कोई भी जिज्ञासु अपनी इच्छानुसार इसकी प्रतियाँ फोटोस्टेट करवा कर स्वाध्यायशील मित्रों में प्रचार-प्रसार के लिये बाँट सकता है ।
4. पुस्तक केवल प्रचारार्थ लिखी गई है और सदुपयोग ही इसका मूल्य है ।
5. सर्वाधिकार लेखकाधीन ।

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 0-9356301618

# विषय सूची


| क्र.सं. | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| 1. | **संस्कार** | **1-22** |
| | (1) गर्भाधान संस्कार | 3 |
| | (2) पुंसवन संस्कार | 4 |
| | (3) सीमान्तोन्नयन संस्कार | 4 |
| | (4) जातकर्म संस्कार | 5 |
| | (5) नामकरण संस्कार | 6 |
| | (6) निष्क्रमण संस्कार | 8 |
| | (7) अन्नप्राशन संस्कार | 9 |
| | (8) चूड़ाकर्म (मुण्डन) संस्कार | 9 |
| | (9) कर्णवेध संस्कार | 10 |
| | (10) उपनयन संस्कार | 11 |
| | (11) वेदारम्भ संस्कार | 13 |
| | (12) समावर्त्तन संस्कार | 14 |
| | (13) विवाह संस्कार | 15 |
| | (14) वानप्रस्थ संस्कार | 17 |
| | (15) संन्यास संस्कार | 18 |
| | (16) अन्त्येष्टि संस्कार | 20 |
| 2. | **समय** | **23-38** |
| 3. | **समता** | **39-45** |
| 4. | **अध्यात्म** | **46-57** |
| 5. | **भारतीय संस्कृति** | **58-70** |
| 6. | **ध्यान** | **71-76** |
| 7. | **श्रद्धा** | **77-83** |
| 8. | **ज्ञान की सात भूमिकाएं** | **84-99** |

| क्र.सं. | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| | (1) शुभेच्छा | 84 |
| | (2) विचारणा | 85 |
| | (3) तनुमानसा | 89 |
| | (4) सत्त्वापत्ति | 91 |
| | (5) असंसक्ति | 95 |
| | (6) पदार्थाभावना | 97 |
| | (7) तुर्यगा | 98 |
| **9.** | **स्तुति, प्रार्थना और उपासना** | **100-117** |
| | (1) स्तुति | 100 |
| | (2) प्रार्थना | 102 |
| | (3) उपासना | 106 |
| | (1) यम | 111 |
| | (2) नियम | 112 |
| | (3) आसन | 114 |
| | (4) प्राणायाम | 114 |
| | (5) प्रत्याहार | 115 |
| | (6) धारणा | 116 |
| | (7) ध्यान | 116 |
| | (8) समाधि | 117 |

# 1. संस्कार

**माता-पिता तीन तरह के हुआ करते हैं। जो माता-पिता अपने बच्चों को केवल जन्म देते हैं। वे सामन्य माता-पिता हैं। जो जन्म के साथ सम्पत्ति भी दे वे मध्यम माता-पिता हैं। लेकिन जो माता-पिता बच्चों को जन्म और सम्पत्ति के साथ-साथ अच्छे संस्कार भी देते हैं वे उत्तम माता-पिता होते हैं। अगर आप अपने बुढ़ापे को सुखी बनाना चाहते हैं तो अपने बच्चों को केवल कार ही न दें वरन् उन्हें अच्छे संस्कार भी दें।**

–मुनि श्री तरुणसागर-कड़वे प्रवचन भाग-8 पृ० 100

संस्कारों का जीवन में अत्यधिक महत्व है। इसका शाब्दिक अर्थ है किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के गुण, कर्म और स्वभाव में परिवर्तन करके उसको अत्यधिक उपयोगी बनाना। जैसे दांती और आरी को जब हम तेज करते हैं तो दांती ढेरों घास काट देती है और आरी भी ढेरों लकड़ी काट देती है। इस प्रकार इनके गुणों की क्षमता बढ़ जाती है। महर्षि दयानंद ने ''सत्यार्थप्रकाश'' में संस्कार की परिभाषा करते हुए लिखा है–

**संस्कार उसको कहते हैं जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम हो।**

संस्कार कोई कर्मकाण्ड नहीं है कि किसी भी पंडित को घर में बुलाकर हवन करना और दक्षिणा देकर समाप्त कर देना है। संस्कार का कर्मकाण्ड से कोई संबंध नहीं है। संस्कार का अर्थ है कि बच्चों में ऐसे गुण भरना जिससे उनका आचरण और व्यवहार जीवन भर सबको सुख देने वाला हो। न केवल अपने ही घर में अपितु जब वह अपने घर से निकलकर दूसरे स्थान या घर में भी चले जायें, तब भी उनका आचरण और व्यवहार दूसरों को सुख देने वाला हो।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि संस्कार कैसे दिये जायें? आज के समय में बच्चों को संस्कार माता-पिता ही दे सकते हैं और यह करने के लिए पहले माता-पिता को वही बनना होगा जो वे अपने

बच्चों को बनाना चाहते हैं। बच्चे बातें सुनने की अपेक्षा आचरण से अधिक प्रभावित होते हैं। जब संस्कार की बात आती है तो वे निम्नलिखित 5 बातें जोकि माता-पिता को अपने बच्चों के सामने आचरण के रूप में प्रस्तुत करनी है–

(1) **सदा सत्य बोलना।**

(2) **किसी भी परिस्थिति में क्रोध न करना।**

(3) **घर में अपने बड़ों की सेवा करना।**

(4) **जीवन के सुखद एवं चुनौतिपूर्ण अनुभवों को बच्चों का बताना ताकि वे कठिन परिस्थितियों में घबरा न जाये और साहस एवं चरित्र का परिचय दें।**

(5) **अपनी कमाई को शुद्ध रखना।**

संस्कार निम्नलिखित पाँच प्रकार के होते हैं–

(1) **आत्मा के मूल संस्कार।**

(2) **पूर्वजन्म के संस्कार।**

(3) **माता-पिता के संस्कार।**

(4) **सत्संग के संस्कार।**

(5) **अपनी आत्मा की सुदृढ़ता के संस्कार।**

विभिन्न ग्रंथों के अध्ययन के अनुसार संस्कार की संख्या निम्नलिखित है–

| | | | |
|---|---|---|---|
| (1) | **हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र** | = | **10** |
| (2) | **कौशिक गृह्यसूत्र** | = | **10** |
| (3) | **जैमिनी गृह्यसूत्र** | = | **11** |
| (4) | **गोपथब्राह्मण** | = | **11** |
| (5) | **कौषीतकि (शंखायन) गृह्यसूत्र** | = | **12** |
| (6) | **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र** | = | **12** |
| (7) | **गोभिल गृह्यसूत्र** | = | **12** |

(8) आश्वलायन गृह्यसूत्र = 13

(9) मानव गृह्यसूत्र = 13

(10) पारस्कर गृह्यसूत्र = 14

(11) मनुस्मृति गृह्यसूत्र = 14

(12) संस्कार विधि = 16

महर्षि दयानंद जी ने विभिन्न गृह्यसूत्र, मनुस्मृति आदि का अध्ययन करने के पश्चात् संस्कार विधि में 16 संस्कारों का वर्णन किया है। इन संस्कारों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

## 1. गर्भाधान संस्कार

गर्भ का धारण, वीर्य का स्थापन, गर्भाशय में स्थिर करना जिस कर्म से होता है उसको गर्भाधान-संस्कार कहते हैं।

**गर्भाधान के योग्य स्त्री-पुरुष की आयु –**

स्वामी जी ने गर्भाधान के पूर्व विवाह-योग्य स्त्री-पुरुष की आयु का निर्धारण सुश्रुत आदि आयुर्वेद के ग्रंथ, वेद और मनुस्मृति के आधार पर स्त्री की न्यूनतम 16 वर्ष तथा पुरुष की 25 वर्ष माना हैं विवाह की दृष्टि से स्त्री की अधिकतम आयु 24 वर्ष तथा पुरुष की 48 वर्ष पर्यन्त है।

**2. ऋतुदान का काल**

इस संबंध में स्वामी जी मनु स्मृति के विचारों को वरीयता देते हैं। मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में 45.50 श्लोकों का संस्कार विधि में उद्धृत करते हुए स्वामी जी अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रकट करते हैं–

(1) स्त्री पतिव्रता हो तथा पति पत्नीव्रत का पालन करें।

(2) ऋतुकाल में ही समागम होना चाहिये। ऋतुकाल

रजोदर्शन के दिन से 16 सोलहवें दिन तक है ।

(3) प्रथम की चार रात्रि में स्त्री-पुरुष का स्पर्श भी नहीं होना चाहिए ।

(4) पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी, अष्टमी, एकादशी, त्रयोदशी तिथियों का भी त्याग करना चाहिए ।

(5) पुत्र की कामना से छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं रात्रि उत्तम है, परन्तु इनमें भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है ।

(6) कन्या की कामना से पांचवीं, सातवीं, नवीं और पंद्रहवीं रात्रि उत्तम समझनी चाहिए ।

## 2. पुंसवन संस्कार

यह संस्कार गर्भ स्थिति का ज्ञान हुए समय से दूसरे व तीसरे महीने में किया जाता हैं गृह्यसूत्र में भी यही काल या समय इस संस्कार का माना गया है ।

स्वामी जी ने इसके लिए होम की सामान्य विधि सम्पन्न करने के बाद आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित दो आहुति के पश्चात् एकान्त में पति द्वारा पत्नी के हृदय पर हाथ धरकर ( आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/13/7) बोलने का विधान है । पुनः वट वृक्ष के कोमल कोंपल और गिलोय को महीन पीस कर कपड़छन करके गर्भिणी स्त्री के दाहिने नासापुट में सुंघाया जाता हैं तत्पश्चात् पति अपने गर्भवती पत्नी के गर्भाशय पर हाथ धरकर यजुर्वेद के 12/4 मंत्र का पाठ करता है ।

## 3. सीमान्तोन्नयन संस्कार

संस्कार विधि में सीमन्तोन्नयन संस्कार का काल गर्भ से अष्टम मास में माना गया है । इस संस्कार का मुख्योद्देश्य गर्भवती स्त्री के हृदय में प्रसन्नता, उल्लास और सांन्तवना उत्पन्न करना है ।

इस संस्कार का यह नाम इसलिए पड़ा कि इस संस्कार में गर्भवती स्त्री के सीमन्त (केशों) को उन्नयन (ऊपर उठाना) किया जाता हैं इस संस्कार का प्रयोजन स्वामी जी के शब्दों में इस प्रकार है–जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट, आरोग्य, गर्भ स्थिर, उत्कृष्ट, होते और प्रतिदिन प्रसन्नता बढ़ती जावे। गर्भ के चतुर्थ मास से लेकर आठवें मास तक गर्भ के गिरने का बहुत भय होता है। विशेषकर छठे और आठवें मास में। इस संस्कार के करने से गर्भिणी के हृदय में प्रसन्नता, उल्लास और सान्त्वना उत्पन्न की जाती है। हृदय में मानसिक शक्ति के उत्पन्न होने से गर्भपतन का भय नहीं रहता। गर्भ की रक्षा के निमित्त यह संस्कार विहित है। इस संस्कार का नाम सीमन्तोन्नयन इसलिए रखा गया है कि इस संस्कार की विधि में पत्नी के हृदय में सान्त्वना उत्पन्न करने के लिए पति कंघी से अपनी पत्नी के सीमन्त केशों में लकीर निकालता है। केशों में केशवीथी के निकालने से ही इस संस्कार का नाम सीमन्तोन्नयन पड़ा है।

आयुर्वेद के ग्रंथ सुश्रुत में स्पष्ट लिखा हुआ है कि पाँचवें महीने में गर्भस्थ बालक का मन अधिक चैतन्य हो जाता है। छठे मास में बुद्धि उत्पन्न होती है। सातवें मास में सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों के विभाग पृथक्-पृथक् स्पष्ट हो जाते हैं। आठवें मास में हृदयस्थ सर्वधातु सम्बन्धी ओज स्थिर नहीं होता। इसलिए इस मास में जन्म लिया बालक जीवित नहीं रहता। इस मास में चित्त विनोदक पदार्थ अर्थात् उड़द और भात का हवन करना चाहिए।

## 4. जातकर्म संस्कार

यह बालक की उत्पत्ति के समय में किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से तीन क्रियाएं की जाती हैं (1) प्रसव के समय गर्भवती स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन। (2) बालक के उत्पन्न होने पर सोने की सलाई से बालक को घी और मधु चटाना (3) प्रसूतानगर में पीली

सरसों से दस दिन तक हवन करना । इस संस्कार में दिये जाने वाले इन तीनों कार्यों का सीधा संबंध प्रसविनी माँ और उसके नवजात शिशु से है, जिसका उद्देश्य बालक और माता की सुरक्षा संरक्षण और उत्तर शैक्षिक संस्कार प्रदान करना है ।

जातकर्म संस्कार का दूसरा महत्वपूर्ण कृत्य बालक की जीभ पर सोने की शलाका से 'ओ३म्' यह अक्षर लिखना है । तत्पश्चात् बालक का पिता बालक के दाहिने कान में ''वेदोऽसीती'' अर्थात् तेरा गुप्त नाम वेद है, यह सुनाये । इसके पश्चात् घृत और मधु यथोचित रूप में मिश्रण करके (एक तोला मधु में आधा तोला घृत मिलाना) उसी सोने की शलाका से एक-एक मंत्र पढ़ के छः बार घृत और मधु का प्राशन कराया जाता है ।

घृत मधु और स्वर्ण के आयुर्वैदिक गुणों पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि घी, मधु और सोने की शलाका घिस कर चटाने से बालक की शारीरिक और मानसिक उन्नति होती है । शिशु की आयु और मेधा बढ़ाने वाली यह एक रासायनिक औषधि है । सुश्रुत सूत्र स्थान अध्याय 75 के अनुसार घृत और मधु के अत्यन्त उपयोगी गुण है । जिसका सेवन बालक के लिए अत्यावश्यक है । आयुर्वेदीय ग्रंथों में स्वर्ण को मेधा, स्मृति और आयुष्य का कर्ता तथा वीर्यवर्धक माना गया हैं इसलिए स्वर्ण के घुसने से उसके अणु सूक्ष्म रूप में घृत और मधु के अणुओं से मिलकर अपूर्वता उत्पन्न करेंगे ।

बालक के दाहिने कान में 'वेदोऽसीति' कहने का अभिप्राय यह है कि पिता पुत्र को ज्ञानवान् बनाना चाहता है क्योंकि वेद का शाब्दिक अर्थ ही ज्ञान है ।

## 5. नामकरण संस्कार

जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम रखना 'नामकरण' कहलाता है । जन्म से 11वें दिन अथवा 101वें दिन अथवा एक वर्ष के पश्चात् जिस दिन जन्म हुआ हो उस दिन नामकरण संस्कार करें ।

नामकरण संस्कार के दिन अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने इष्ट मित्र हितैषियों को बुलाकर उनका यथावत् सत्कार करके बालक के पिता और ऋत्विज इस संस्कार को सम्पन्न करते हैं। नामकरण संस्कार में विहित मंत्रों का पाठ और अन्य कर्मकाण्डपरक क्रियाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित नियमों का उल्लेख भी शास्त्रों में पाया जाता है जिसका समर्थन संस्कार विधि के रचयिता ऋषि दयानंद ने किया है।

जन्म तिथि के देवता, जन्मकाल का नक्षत्र व देवता का नामोल्लेखपूर्वक आहुतियाँ।

पुत्र का नाम समाक्षर अर्थात् दो, चार अथवा छः अक्षर का होना चाहिए तथा पुत्री का नाम विषमाक्षर एक, तीन या पाँच अक्षर का होना चाहिए।

नाम के अक्षरों में वर्ग का तीसरा, चौथा या पाँचवाँ अक्षर (घोष संज्ञक) और य, र, ल, व इन चार वर्णों में कोई (अन्तस्थ) अवश्य आना चाहिए।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णस्थ बच्चों के नाम में क्रमशः, शर्मा, वर्मा, गुप्त और दास होना चाहिए।

बालिकाओं के नाम श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रोडा।

स्वामी जी ने इस संस्कार के विधि का सम्यक् रूप से वर्णन करने के बाद टिप्पणी में मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक का प्रमाण देते हुए स्त्रियों के लिए न रखने योग्य नामों का उल्लेख भी किया है–

**नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।**

**न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्।।** (मनुस्मृति 3/9)

रोहिणी, रेवती, चम्पा, तुलसी, गंगा, यमुना, चांडाली, विंध्याचला, हिमालया, कोकिला, हंसा, सर्पिणी, नागी, दासी, किंकरी, भीमा, भयंकारी आदि नाम निषिद्ध हैं।

## 6. निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण का अर्थ है निकलना। किन्तु यहाँ उस निकलने का तात्पर्य है, जबकि बालक पहले घर से निकलता है। बालक का प्रथम निष्क्रमण भी हर्षप्रद होता है। इसलिए इसको भी एक संस्कार का रूप दिया गया है। बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्ल पक्ष की तृतीया अथवा चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो।

संस्कार के दिन प्रातः काल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान कराकर शुद्ध सुन्दर वस्त्र पहनाया जाता है। बालक की माँ अपने शिशु को गोद में लेकर पति के साथ बैठती है। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण तथा सामान्य प्रकरण का होम करके पुत्र को देखते हुए मंत्रपाठ पूर्वक शिशु के सिर का स्पर्श किया जाता है। पुत्र के बायें तथा दक्षिण कान में मंत्र का जप किया जाता है तत्पश्चात् मंत्रपाठ पूर्वक सूर्य का दर्शन कराया जाता है। इसके पश्चात् शुद्ध वायु में भ्रमण कराकर यज्ञशाला में उपस्थित होकर यज्ञीय होम सम्पन्न करके बालक को आशीर्वाद दिया जाता है। रात्रि में चन्द्रमा के प्रकाशमान होने पर बालक की माँ जल को पृथ्वी पर छोड़ती है। उस बालक का पिता भी जल की अंजलि भरकर मंत्र पाठ पूर्वक परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथ्वी पर छोड़ता है। पति-पत्नी दोनों प्रसन्न मन पुत्र को लेकर घर में प्रवेश करते हैं।

इस संस्कार के दो मुख्य उद्देश्य हैं—(1) शिशु को जंगल और उद्यान में शुद्ध वायु का सेवन कराना जिससे उसके अनेक भावी रोग दूर हो जायें और शारीरिक उन्नति हो सके। (2) सृष्टि अवलोकन करने का प्रथम शिक्षण दिया जाये। सृष्टि दर्शन से सृष्टि विज्ञान का मर्म समझना प्रारम्भ हो जाता हैं सृष्टि-अवलोकन के प्रारम्भ में सूर्य और चन्द्र के दर्शन कराना सृष्टि विज्ञान के निरीक्षण का उपक्रम इस संस्कार द्वारा प्रारम्भ कर दिया जाता है।

## 7. अन्नप्राशन संस्कार

इसका नाम 'अन्नप्राशन' इसलिए है कि इस संस्कार में बालक को पहले-पहल अन्न का प्राशन कराया जाता है। छठे महीने में अन्नप्राशन संस्कार किया जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'अन्नप्राशन संस्कार' तभी करें जब बालक की शक्ति अन्न पचाने के योग्य हो जाये।

संस्कार विधि में स्वामी जी ने आश्वलायन गृह्यसूत्र के प्रमाण से यह लिखा है कि यदि बालक को तेजस्वी बनाना हो तो उसे घृतयुक्त भात खिलाना चाहिए। अथवा दही, मधु और घृत में सम्पृक्त भात का अन्नप्राशन कराना चाहिए। अन्नप्राशन के लिए भात को पकाने का विधान तथा उस भात से सामान्य होम के बाद विशेष आहुतियां देने का विधान भी स्वामी जी ने किया है। प्राचीन शास्त्रों में मौन होकर अथवा 'हन्त' बोलकर अन्नप्राशन कराने का विधान है। किन्तु कुछ गृह्यसूत्रों (आश्वलायन, जैमिनीय, काठक) में यजुर्वेद के (11/83) मंत्र का पाठ पूर्वक अन्नप्राशन का विधान किया गया है।

अतः छः मास से पूर्व अपनी संतान को अन्न नहीं खिलाना चाहिए। इसीलिए प्राचीन शास्त्रकारों तथा स्वामी दयानंद ने भी अन्नप्राशन का प्रारम्भ छठे मास में ही माना है।

## 8. चूड़ाकर्म (मुण्डन) संस्कार

इस संस्कार के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग होता हैं जैसे–मुण्डन, चूड़ाकरण, केशवपन, चौल और केशच्छेदन आदि। संस्कृत में चूड़ा शब्द शिखर या चोटी के लिये प्रयुक्त होता है। चूड़ाकर्म का शाब्दिक अर्थ है –'सिर के बालों के सम्बन्ध में कर्म'। हिन्दी का जूड़ा शब्द 'चूड़ा' का ही अपभ्रंश है।

यह संस्कार बालक के एक वर्ष के होने पर किया जाता है या जन्म के तीसरे वर्ष में। संस्कार विधि में बालक के एक वर्ष या तीसरे

वर्ष में उत्तरायण काल शुक्ल पक्ष में जिस दिन आनन्द हो उस दिन यह संस्कार करें। बालक के छः सात मास की आयु से दांत निकलने आरंभ हो जाते हैं। जो अढाई से तीन वर्ष की आयु तक निकलते रहते हैं। एक वर्ष की आयु तक आठ दांत निकल जाते हैं (4 नीचे के और 4 ऊपर के) डेढ़ वर्ष की आयु में 12, दो वर्ष की आयु में 16 तथा तीन वर्ष की आयु में 20 दांत निकल आते हैं।

दांत निकलते समय सिर भारी हो जाता है, गर्म रहता है, सिर में दर्द रहता है, मसूड़े सूज जाते हैं, लार बहा करती है, दस्त लग जाते हैं, हरे-पीले, पनीले भारी-भारी दस्त आते हैं, आँखें आ जाती हैं, बच्चा चिड़चिड़ा हो जाता है। दाँतों का भारी प्रभाव सिर पर पड़ता है। इसलिए सिर को हल्का तथा ठंडा रखने के लिए सिर पर से बालों का बोझ उतार डालना ही 'चूड़ाकर्म संस्कार' का उद्देश्य है।

चूड़ाकर्म संस्कार के अन्त में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृत्य के सम्बन्ध में प्राचीन शास्त्रकारों की मान्यता थी कि मुण्डित केश को गोबर के पिण्ड में ढककर गोशाला या तलैया अथवा जल के समीप रख दें। वर्तमान में अधिकांश हिन्दू गंगा आदि नदियों में तीर्थ पर बने हुए मन्दिरों में बाल को मुण्डन कराते हैं और उस मुण्डित बालों को नदी में प्रवाहित करते हैं किन्तु स्वामी दयानंद सरस्वती मुण्डन के केशों को जंगल में गड्ढा खोद कर दबा देने का निर्देश देते हैं।

## 9. कर्णवेध संस्कार

कानों का छेदन करना कर्णवेध संस्कार कहलाता है। कानों में आभूषण पहनने की प्रथा प्रायः सभी देशों की सभी जातियों में पायी जाती हैं। स्वामी दयानंद ने इस संस्कार का काल जन्म से तीसरे या पाँचवें वर्ष को माना है।

संस्कार के दिन बालक को शुद्ध जल से स्नान तथा वस्त्रालंकार धारण कराकर बालक की माता यज्ञशाला में लावे। सामान्य प्रकरणस्थ होम करके बालक के आगे खाने की कुछ वस्तु तथा

खिलौना आदि रखें । तत्पश्चात् **ओं भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा** (यजुर्वेद 25/21) मंत्र का पाठ करते हुए कान भेदने वाले सद्वैद्य दायें कान का वेधन करें तथा **ओं वक्षपन्तीवेदागनीगन्ति कर्णं** (यजुर्वेद 21/40) मंत्र का पाठ करके बायें कान का बेधन करें ।

स्वामी जी सामान्य किसी व्यक्ति से कर्णवेध कराना उचित नहीं समझते । चरक सुश्रुत वैद्यक ग्रंथों के जानने वाले सद्वैद्य के हाथ से कर्ण या नासिका वेध करावें, जो नाड़ी आदि को बचा के वेध कर सके । वही वैद्य उन छिद्रों में शलाका रखें और ऐसी औषधि उस पर लगावे जिससे कान पके नहीं और शीघ्र अच्छे हो जावें ।

## 10. उपनयन संस्कार

उपनयन का शाब्दिक अर्थ है – समीप ले जाना । विद्याध्ययन के लिए गुरु के समीप ले जाने को उपनयन कहा जाता है । उपनयन के बाद बालक द्विज कहलाता हैं द्विज का अर्थ है जिसका दूसरा जन्म हो । माता-पिता से तो पहला जन्म होता है, परन्तु इस जन्म के बाद जब बालक संस्कृति की भट्ठी में पड़कर नवीन मानव होने की प्रक्रिया में पड़ जाता है, तब उसे बालक का दूसरा जन्म कहा जाता है जैसे–

**जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते ।**

स्कन्द पुराण, नागर खंड, अध्याय 239 श्लोक 31

जन्म से तो सभी शूद्र पैदा होते हैं, संस्कारों से ही मनुष्य द्विज बनता है । संस्कृत में शिष्य के लिए एक अत्यन्त सार्थक शब्द प्रयुक्त होता है–'अन्तेवासी' । अन्तेवासी का अर्थ है – जो गुरु के अन्दर बसा हो । उपनयन संस्कार करते हुए गुरु शिष्य को कितना अपने अन्तरतम में ले जाता हैं यह भाव अथर्ववेद से प्रकट होता है–

**आचार्य उपनयमार्नो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।**
**तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ।।**

बालक को शिक्षा देने के लिए स्वीकार करते हुए गुरु उसे इस प्रकार सुरक्षित संभालकर रखता है जैसे माता पुत्र को गर्भ में सुरक्षित तथा संभाल कर रखती है ।

उपनयन संस्कार में मुख्य कर्म यज्ञोपवीत धारण करना है । यज्ञोपवीत धारण करना गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण बालक का 8वें वर्ष में, क्षत्रिय का 11वें वर्ष में तथा वैश्य का 12वें वर्ष में चाहिए ।

संस्कार विधि के अनुसार जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो उससे 3 दिन या 1 दिन पूर्व ब्राह्मण का लड़का एक बार या अनेक बार केवल दुग्ध पान करे, क्षत्रिय का लड़का जौ का दलिया खाये और वैश्य का लड़का केवल श्रीखंड खाये ।

**बालक के द्वारा व्रत पालन की प्रतिज्ञा**

उपनयन के समय आचार्य उससे पूछ सकता है क्या तुम जो कुछ पाने के लिए आये हो उसके लिए दृढ़ निश्चय कर आए हो? बालक के मन में कोई दुविधा न रहे । इसी कारण वह अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा व्रतों के पति परमात्मा के नाम से शपथ खाता है कि मैं ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते हुए उसे निभाने में समर्थ होऊँ । इस प्रकार सभ्य समाज के सम्मुख उपनयन संस्कार के अवसर पर ब्रह्मचर्य व्रत को ग्रहण करने को पाँच बार दोहराना बालक को आत्म बल देता है ।

**उपनयन संस्कार का सार्वजनिक प्रचलन**

(1) उपनयन संस्कार एक महत्वपूर्ण संस्कार है । यह संस्कार वैदिक धर्म से अन्य धर्मों में भी पहुँचा । पारसी लोग जिनका उद्‌भव आर्यों से ही है, यज्ञोपवीत को 'कुस्ती' कहते हैं । पारसियों के पैग़म्बर स्पित्म जरयुश्य को पारसियों के आहुरमान्दा ने कहा कि जो कुस्ती (यज्ञोपवीत) को धारण नहीं करता उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाना चाहिए । पारसियों के यहाँ कुस्ती 7 वर्ष में दी जाती है और बालक इसे कमर के चारों तरफ लपेटता है । यह उनका महत्वपूर्ण संस्कार है ।

(2) ईसाइयों में बच्चे को 'बप्तिस्मा' (Baptisma) देते हैं, जो उपनयन का ही एक रूप है, यह यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'पुनरुत्पत्ति' है। यही पुनरुत्पत्ति 'द्विज' शब्द से अभिव्यक्त होती है और 'द्विज' उसी को कहते हैं जिसका उपनयन संस्कार हो चुका है।

(3) मुसलमानों में उपनयन को बिस्मिल्ला पढ़ना कहते हैं। उनके यहाँ 4 साल, 4 महीने, 4 दिन, 4 घड़ी, 4 पल का हो जाने पर बालक को बिस्मिल्ल सुनाकर पढ़ने को बैठाया जाता है। बिस्मिल्ला पढ़ते हुए उसे ''बिस्मिल्ला इर्रहमान इर्रहीम'' पढ़ने को कहा जाता है जैसे वैदिक संस्कृति में गायत्री मंत्र पढ़ने को कहा जाता है।

## 11. वेदारम्भ संस्कार

गायत्री मंत्र के उपदेश से लेकर सांगोपांग चार वेदों, अर्थात् सब प्रकार की सब सत्य-विद्याओं के अध्ययन करने के लिए नियम अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत का धारण करना वेदारम्भ कहलाता है क्योंकि उपनयन-वेदारम्भ से ही द्विज बनना प्रारम्भ हो जाता है।

जो दिन 'उपनयन-संस्कार' का है, वही वेदारम्भ का भी है। यदि उस दिन में न हो सके, अथवा करने की इच्छा न हो, तो दूसरे दिन ही करें। यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो, तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करें।

**(1) गायत्री मंत्रोपदेश :** – चारों वेदों में गायत्री मंत्र का उपदेश आचार्य ब्रह्मचारी को देता है। वेद-ज्ञान के भण्डार हैं। अतः विद्यार्थी के विद्या का आरम्भ वेदमंत्र से ही होना चाहिए। ज्ञातव्य है कि जातकर्म संस्कार में नवजात बालक के जिह्वा पर पिता 'वेदोऽसि' लिखता है। गायत्री मंत्र का सर्वप्रथम शिष्य के प्रति आचार्य द्वारा दिये गये उपदेश के कारण ही इसे गुरुमंत्र कहते हैं। गायत्री मंत्र की सर्वाधिक महत्ता का कारण यह है कि इस मंत्र में परमात्मा के अतिश्रेष्ठ वरण करने योग्य, पवित्र स्वरूप को धारण और ध्यान

करने की बात कही गई है जो धारण किया हुआ परमात्मा हमारी बुद्धियों को उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव और सन्मार्ग में प्रेरित करें ।

**(2) आश्रमवास :–** 'वेदारम्भ-संस्कार' की अवधारणा विद्यार्थी या ब्रह्मचारी के गुरुकुल में ही 24 घण्टे निवास पर अवलम्बित है । स्वामी दयानंद विद्यार्थी के अपने माता-पिता के पास निवास करने के विचार से सहमत नहीं हैं । तपस्वी और त्यागी आचार्य की रात-दिन की देख-रेख में ही अभीष्ट ब्रह्मचारी का निर्माण हो सकता है । वेदारम्भ संस्कार में जिस प्रकार के उपदेश दिये गये हैं उन उपदेशों का पालन करना गुरुकुल के आश्रमवास की दिनचर्या में है ।

**(3) ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य :–** वेदारम्भ संस्कार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नियम जिसमें ऋषि दयानन्द की स्वविशिष्ट शैक्षिक दृष्टि झलकती है, वह ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य ही हैं । संस्कार विधि में ऋषि दयानन्द ने ब्रह्मचारी के लिए 22 कर्त्तव्यों का विधान किया है जिनमें से 5 कर्त्तव्यों के उपदेश की उद्‌भावना स्वयं ऋषि दयानंद ने की है । शेष 17 कर्त्तव्य पूर्वाचार्यों द्वारा ब्रह्मचारी के लिए शास्त्रों में उपदिष्ट हैं । इन कर्तव्यों का उल्लेख करना आज की शिक्षा पद्धति में विद्यार्थियों की चरित्रहीनता, उच्छृंखलता आदि दोषों को दूर करने की दृष्टि से अप्रासंगिक नहीं है । जैसे–

(1) **आज से तुम्हें ब्रह्मचारी रहना है ।**
(2) **शुद्ध जल का सेवन करना है ।**
(3) **शुभ कर्मों को करना है ।**
(4) **दिन में शयन नहीं करना है ।**
(5) **आचार्य के अधीन रहकर सांगोपांग वेद का अध्ययन करना है ।**

## 12. समावर्त्तन संस्कार

ब्रह्मचर्यव्रत, सांगोपांग वेद विद्या उत्तम शिक्षा और पदार्थ विज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाह विधानपूर्वक गृहाश्रम को

ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़ के घर की ओर आना समावर्त्तन संस्कार कहलाता है ।

समावर्त्तन का समय ब्रह्मचर्यव्रत तथा अभ्यासपूर्वक विद्याभ्यास समाप्त करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करने से पूर्व है। गृहस्थाश्रम की इच्छा तभी करनी चाहिए जब विद्या, हस्तक्रिया (कला कौशल) तथा ब्रह्मचर्यव्रत पूरा हो जाए । समावर्त्तन-संस्कार की विधि पूर्ण करके विवाह करना चाहिए ।

ऋषि दयानंद ने समावर्त्तन संस्कार आचार्य या पिता के गृह में माना है । सर्वप्रथम स्नातक का पाद्यं, अर्घ्य, आचमनीय तथा मधुपर्क आदि से स्वागत सत्कार किया जाता हैं अन्य विधियों का नामोल्लेख क्रमशः इस प्रकार है–

**(1) ऋत्विग्वरण, यज्ञ-आरम्भ, सामान्य होम**

**(2) अग्नि-संचय, समिधा होम**

**(3) अग्नि ताप, अंग-स्पर्श**

**(4) मंगलाभिषेक स्नान**

**(5) मेखला-दण्ड-त्याग**

**(6) परमात्मा का उपस्थान**

**(7) दधि-तिल प्राशन जटा लोमनखवपनछेदन, उदुम्बरदन्त धावन, सुगन्धित द्रव्य व स्नान तथा उबटन**

**(8) नवीन वस्त्रधारण व अलंकरण**

**(9) यज्ञ समाप्ति, पूर्णाहुति**

**(10) आचार्योपदेश**

**(11) ब्रह्मचारी-स्वागत व आचार्य-सत्कार**

## 13. विवाह संस्कार

सभी संस्कारों में विवाह संस्कार प्रधान माना जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या और बल को प्राप्त करके, तुल्य गुण, कर्म,

स्वभावों वाले प्रीतियुक्त होके सन्तानोत्पत्ति एवं अपने-अपने वर्ण और गृहस्थ आश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिए स्त्री पुरुष का सम्बन्ध होना विवाह कहलाता है ।

**विवाह योग्य आयु –**

स्वामी जी विवाह के लिए पुरुष की न्यूनतम आयु 25 वर्ष तथा कन्या की 16 वर्ष मानते हैं । आर्ष प्रमाणों के आधार पर विवाह के लिए कन्या की अधिकतम आयु 24 वर्ष तथा पुरुष की आयु 48 वर्ष मानते हैं ।

इसी संदर्भ में मध्यकालीन पराशरस्मृति में पठित-गौरी, रोहिणी, रजस्वला, नाम्नी, आठ, नौ तथा दस वर्षीया कन्याओं के विवाह की स्वामी जी ने कड़ी आलोचना की है । स्वामी जी के अनुसार अल्पायु में विवाह करने वाले लोगों की दुर्गति होती है । विवाहित स्त्री पुरुष नष्ट-भ्रष्ट अल्पायु और रोगी होते हैं और अपने कुल का सत्यानाश करते हैं । स्वामी जी के समय में जहाँ सनातनी पण्डित अल्पायु में विवाह के औचित्य वाले शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत करते थे, वहीं स्वामी जी ने परम प्रमाण वेदों से युवावस्था में विवाह करने वाले प्रमाण अर्थ सहित उद्धृत किये ।

**विवाह का समय**

विवाह के समय के संबंध में स्वामी जी क्रान्तिकारी मान्यता रखते हैं । वे आजकल हिन्दुओं में प्रचलित लग्न, तिथि, नक्षत्र आदि का विचार अयुक्त समझते हैं । स्वामी जी के शब्द हैं –यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है, इसमें प्रमाण नहीं । इस सन्दर्भ में स्वामी जी ने आश्वलायन तथा गोभिल गृह्यसूत्रों का उद्धृत किया है ।

**विवाह के आठ भेद**

मनुस्मृति के प्रामाण्य से स्वामी जी ने विवाह के 8 प्रकार माने हैं– (1) ब्राह्म, (2) दैव, (3) आर्ष, (4) प्राजापत्य, (5) आसुर, (6) गान्धर्व, (7) राक्षस, (8) पैशाच । इनमें प्रथम के चार उत्तम हैं तथा अन्तिम चार निन्दनीय हैं ।

## 14. वानप्रस्थ संस्कार

विवाह से सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् उस पुत्र का भी सन्तान जब हो जाये अर्थात् पुत्र का भी पुत्र हो जाने पर श्रद्धापूर्वक वानप्रस्थ आश्रम की दीक्षा लेकर वन में जाकर तप, स्वाध्याय का जीवन व्यतीत करना वानप्रस्थ कहलाता है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के बाद पुरुष विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है अर्थात् वानप्रस्थ का समय 50 वर्ष के उपरान्त है।

**वानप्रस्थ का कर्तव्य**

जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखे और पुत्र का भी पुत्र हो जाए तब ग्रामों में उत्पन्न पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों के मोह को छोड़ अग्निहोत्र की सब सामग्री साथ लेके, अपनी स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, पुत्रवधू आदि सबको गृहस्थाश्रम की शिक्षा करके, वन की ओर यात्रा करने की तैयारी करें। यदि स्त्री साथ चले तो साथ ले जावे। परन्तु उससे सेवा के अतिरिक्त विषय-सेवन अर्थात् प्रसंग कभी न करे। नहीं तो पुत्रों को अथवा ज्येष्ठ पुत्र को अपनी पत्नी को सौंप जावे और उन्हें शिक्षा कर दें कि इसकी सेवा यथावत् किया करना और अपनी पत्नी को भी शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्म-मार्ग में चलने के लिए और अधर्म से हटाने के लिए शिक्षा करती रहना।

सबसे प्रीतिपूर्वक यथा योग्य व्यवहार करना, अपने समय को धर्म कार्यों व सत्संग, सेवा में लगाना, यथासम्भव गृहस्थ के व्यवहारों से अपने मन को पृथक् रख स्वाध्याय, योगाभ्यास में लगाना आदि। स्वयं जंगल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त मन लगाना और इन्द्रियों को जीत सबसे मित्रभाव, सावधान नित्य देने हारा और किसी से कुछ भी न लेने हारा सब प्राणिमात्र पर अनुकम्पा, कृपा बनाये रखने हारा।

जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करने वाले तपस्वी

धर्मात्मा-विद्वान् गृहस्थ वा वानप्रस्थ बनवासी हों, उनके घरों में से भिक्षा ग्रहण करें। इस प्रकार वन में बसता हुआ, आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे। इसी प्रकार जब तक संन्यास करने की इच्छा न हो, तब तक वानप्रस्थ ही रहें।

## 15. संन्यास संस्कार

संस्कारों के मुख्य ग्रंथ गृह्यसूत्र में वानप्रस्थ और संन्यास का वर्णन नहीं है। परन्तु हम पहले यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि स्वामी जी ने संस्कारों की 16 संख्या उसमें वानप्रस्थ और संन्यास का समावेश गृह्यसूत्रों के आधार पर ही नहीं अपितु वैदिक संहिताओं ब्राह्मण ग्रंथों, धर्मसूत्र, उपनिषद् तथा मनुस्मृति के आधार पर किया है। मनुस्मृति के छठे अध्याय में वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम का विधान है और उसके कर्त्तव्यों की विवेचना भी की गई है। संन्यास संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोह आदि आवरण, पक्षपात छोड़ने की दीक्षा, विरक्त होकर सब भूमण्डल में प्राणिमात्र के लिए परोपकारार्थ विचरना। संन्यास संस्कार के काल के सम्बन्ध में स्वामी जी के तीन प्रकार के मत हैं–

(1) ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ, गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ और वानप्रस्थ के बाद संन्यास लेना, यह क्रम-संन्यास कहलाता है अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता हुआ वृद्धावस्था में 75 वर्ष की आयु में संन्यास लेना।

(2) जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहस्थाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करें। क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

(3) यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण

ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से उठ जावे, तथा पक्षपातरहित उपकार की इच्छा हो, तथा मरण-पर्यन्त संन्यास धर्म निर्वाह करने का सामर्थ्य हो वह गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ न करे। ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवें।

**संन्यासी के कर्त्तव्य**

संन्यासी आहवनीयादि अग्नियों से रहित रहे। कहीं अपना स्वाभिमत घर, मठ, आश्रम, संस्थान विद्यालयादि भी न बनाये और अन्न वस्त्रादि के लिए ग्राम का आश्रय लेवें। बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिर बुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे। न तो अपने जीवन में आनन्द और न मृत्यु में दुःख माने। किन्तु जैसे भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता है, वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे। चलते समय आगे-आगे देख के पग धरे। सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे। सबसे सत्य वाणी बोले। जो कुछ व्यवहार करे, वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे। मांस-मद्यादि का त्यागी, आत्मा से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सबको सत्योपदेश करता रहे। सब सिर के बाल, दाढ़ी-मूँछ और नखों को समय-समय पर छेदन करता रहे। पात्री, दण्डी और कुसुंग के रंगे हुए वस्त्रों को धारण किया करे। सब प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे। यदि सन्यासी को मूर्ख संन्यासी लोग निन्दा आदि से दूषित या अपमानित भी करे तथापि धर्म ही का आचरण करे। सब प्राणियों में पक्षपात रहित होकर समबुद्धि रखे आदि उत्तम काम करने के लिए संन्यासाश्रम की विधि है। परन्तु केवल दण्डाादि चिह्न धारण करना ही धर्म का लक्षण नहीं है।

## 16. अन्त्येष्टि संस्कार

अन्त्येष्टि संस्कार वह कर्म है जो शरीर के अन्त में होता है। जिसके आगे शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र को छोड़कर उपलब्ध किसी गृह्यसूत्र में अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन नहीं है। 'कौशिक सूत्र' में पितृमेध' नाम से अन्त्येष्टि का उल्लेख मिलता है। स्वामी जी ने अपनी 'संस्कार-विधि' में अन्त्येष्टि को संस्कार मानते हुए दो प्रबल प्रमाण उद्धृत किये हैं –एक यजुर्वेद का और दूसरा मनुस्मृति का।

**अन्त्येष्टि के बाद पौराणिक कर्म का खण्डन**

स्वामी जी अन्त्येष्टि (मृतक संस्कार) के बाद दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डी कर्म, मासिक, वार्षिक, गया श्राद्ध आदि क्रियाओं को वेदविरुद्ध अकरणीय मानते हैं। क्योंकि मृत्यु के बाद जीव जिस यमालय में जाता है उस यमालय का अर्थ वाटवालय अर्थात् अन्तरिक्ष जो ऊपर पीला सा दिखता है वह है। इस संदर्भ में स्वामी जी ने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के छः मंत्र उद्धृत किये हैं जिसमें 'यम' शब्द का उल्लेख है। इन छहों स्थानों पर यम के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं।

(1) ऋतु, (2) परमेश्वर, (3) अग्नि, (4) वायु, विद्युत् और सूर्य, (5) वेग वाला होने से वायु, (6) पुनः परमेश्वर।

समाज में गरुड़पुराणोक्तम लोक तथा मृतक श्राद्ध में गहरी आस्था के दो कारण भी स्वामी जी बतलाते हैं– (1) वेदों का ज्ञान न होना, (2) सत्योपदेश का न होना। किसी पुरुष के मरने पर पुरुष और स्त्री के मरने पर स्त्री स्नान करावे। चन्दनादि सुगन्धलेपन और नवीनवस्त्र धारण करावे। शरीर के भार के तुल्य घृत लेकर चन्दन, कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, चन्दन का चूरा, कपूर, पलाश आदि के काष्ठ लेकर कुल दूनी सामग्री लेकर शमशान जायें।

प्राचीन बेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदे। मृतक का पग दक्षिण और शिर उत्तर रहे। वेदी में थोड़ा-थोड़ा जल छिटकावें। गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी करें। वेदी में लकड़ियों का विधिवत् चयन करें। बीच-बीच में कपूर भी रखें। पृथक् अग्नि जलाकर घी तपाकर छानकर उसमें कस्तूरी आदि पदार्थ मिला लें। लम्बी-लम्बी लकड़ियों में चार चमसों को बाँधें। पश्चात् घृत का दीपक जला कपूर में लगाकर शिर से प्रारम्भ कर पाद पर्यन्त मध्य-मध्य में अग्नि प्रवेश करावें।

अन्त्येष्टि की आहुतियों के लिए स्वामी जी ने आरम्भ में चार मंत्र आश्वलायन गृह्यसूत्र से लिये हैं, पश्चात् ऋग्वेद के 17 मंत्र, इसके पश्चात् यजुर्वेद के 62 मंत्र, अथर्ववेद के 10 मंत्र और अन्त में तैत्तिरीय आरण्यक के 26 छब्बीस मंत्रों से कुल 121 आहुतियों का विधान किया है। 'संस्कार चन्द्रिका' के लेखक डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का मत है कि 'अन्त्येष्टि संस्कार' में जो मंत्र पढ़े जाते हैं उनमें बार-बार इस बात को दोहराया गया है कि जीव इस शरीर को छोड़ कर अपने कर्मानुसार जन्म को धारण करता है। ऋषि दयानन्द ने इन मंत्रों का चुनाव बड़ी योग्यता से किया है। इन मंत्रों से चार जन आहुति दें तो 484 आहुतियाँ हो जाती हैं। आगे स्वामी जी लिखते हैं–

**यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं मंत्रों से आहुति देते जायें यावत् शरीर भस्म न हो जाये तावत् देवें।**

उपरोक्त विवेचन व विश्लेषण के अध्ययन के उपरांत हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अब 16 संस्कारों में से केवल 3 ही संस्कार अमल में लाये जाते हैं। वे हैं– नामकरण संस्कार, विवाह संस्कार, अन्त्येष्टि संस्कार। शेष संस्कार प्रायः लुप्त ही हो गये हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् बच्चों को अक्षर-ज्ञान देने के लिये देश में ग्राम-ग्राम में स्कूल तो खुल गये। परन्तु बच्चों को संस्कारवान् बनाने की ओर कोई

ध्यान नहीं दिया गया । वस्तुतः हमारे देश में 95% शिक्षक ऐसे हैं जो बच्चों को अंग्रेज़ी, हिन्दी आदि की शिक्षा देने में तो सक्षम हैं, परन्तु उन्हें वे संस्कार नहीं देते क्योंकि उनमें भी संस्कार नहीं हैं । जबकि संस्कारों तथा शिक्षा का अन्योन्याश्रित संबंध है । यदि संस्कार शिक्षा को महान् लक्ष्य की ओर ले जाते हैं तो शिक्षा संस्कारों की जननी है ।

वस्तुतः संस्कारों के बिना मानव, मानव नहीं बन सकता । यह सर्वविदित है कि संखिया जैसे विष को भी संस्कारों की भावना देकर अमृत तुल्य बना दिया जाता है । जंगली खूंखार शेर को संस्कारों द्वारा बकरी के साथ एक घाट पर पानी पिलाया जा सकता है । परन्तु हम देखते हैं कि अधिकतर माता-पिता भी अपने बच्चों को सुख-सुविधायें तो देते हैं परन्तु संस्कार व समय नहीं दे पाते हैं । यदि माता-पिता व शिक्षक अपने-अपने बच्चों व विद्यार्थियों को संस्कार व समय दें तभी बच्चे संस्कारवान बनकर मानवता की सेवा करेंगे । जैसे स्वामी विवेकानंद लिखते हैं–

**बच्चों पर निवेश करने की सबसे अच्छी चीज है अपना समय और अच्छे संस्कार । एक श्रेष्ठ बालक का निर्माण सौ विद्यालयों के बनाने से बेहतर है ।**

# 2. समय

**सब से बढ़कर समय है, सभी गुणों की खान ।**
**करे समय का मान जो वह है पुरुष महान् । ।**

समय की अमूल्यता के रहस्य को समझकर मनुष्य को चाहिये कि वह अपना सारा समय प्रभु के प्रभाव और रहस्य को समझते हुए श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर केवल प्रभुचिन्तन में ही लगावे । यदि व्यक्ति भगवच्चिन्तन का ऐसा अभ्यास करे तो उसको बहुत अल्प समय में ही परमात्मा की अनुभूति हो सकती है इस प्रकार के अभ्यास से सम्पूर्ण दुर्गुणों, दुराचारों एवं दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है और मनुष्य अनायास ही सदाचार और सद्गुणों से सम्पन्न होकर परम शान्ति और परम आनन्द को प्राप्त होता है ।

संसार में 84,00,000 जाति के अनन्त जीव ग्रंथों में बतलाये गये हैं । इन सबमें परमात्मा की प्राप्ति का अधिकार केवल मानव को ही माना गया हैं परमात्मा की असीम अनुकम्पा के प्रभाव से तो अनधिकारी पशु-पक्षी तिर्यक-योनि के जीवों को भी परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार की बातें इतिहास में मिलती हैं । परन्तु वह अपवादरूप है, नियम नहीं । सारी सृष्टि के जीवों की संख्या का अनुमान करना तो वस्तुतः लड़कपन है, परंतु मनुष्य की साधारण बुद्धि से इतना कहा जा सकता है कि समस्त सृष्टि के अनन्तकोटि जीवों में मनुष्य की संख्या अपार समुद्र में एक क्षुद्र तरंग के समान ही है । यदि प्रत्येक योनि को भोगते हुए ठीक क्रम से जीव को मानव शरीर मिले तब तो अनेकों युगों के बाद उसका मिलना सम्भव है । आचरणों की ओर देखने पर भी निराशा ही होती है, आचरण तो ऐसे हैं कि उनसे शीघ्र मानव शरीर मिलने की आशा ही नहीं की जा सकती । जिसको मानवशरीर मिलता है उस पर प्रभु की असीम अनुकम्पा समझनी चाहिये । इसी से ''रामचरितमानस'' में कहा गया है—

**आकर चारि लच्छ चौरासी । जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ।।**
**फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल कर्म सुभाव गुन घेरा ।।**
**कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिन हेतु सनेही ।।**

उत्तर काण्ड 43.27

श्रीराम मानव जीवन के भोगों में दुरुपयोग के दुष्परिणाम गिनाते हुए कहते हैं कि इस संसार में चौरासी लाख योनियाँ हैं परन्तु यह आत्मा अमर होने पर भी इन भोगों के फेर में पड़कर इन चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है । यह अनश्वर जीव ईश्वर का अंश होने पर भी माया के चक्कर में पड़कर उसकी प्रेरणा से समय, कर्म, स्वभाव और गुण इनसे घिरा इन चौरासी लाख योनियों में स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और जरायुज इन चारों भेदों में चक्कर काटता रहता है ।

अतएव बुद्धिमान् पुरुषों को यह समझ लेना चाहिये कि अनन्त युगों से भटकते हुए अनन्तकोटि जीवों में से जो अत्यन्त ही भाग्यशाली और मुक्ति के अधिकारी समझे जाने योग्य जीव होते हैं उन्हीं को ईश्वर यह दुर्लभ मुक्तिदायक मानव शरीर प्रदान करते हैं । ऐसे दुर्लभ और क्षण भंगुर अनित्य मानव शरीर को पाकर जो जीव शीघ्र-से-शीघ्र अपने आत्मा के कल्याण के लिये तत्पर नहीं होता उसके समान मूर्ख और कोई भी नहीं है । जब मानव शरीर मिल गया तब यह समझ लेना चाहिये कि सामान्य भाव से मुक्ति के अधिकारी तो हम हैं ही । ऐसा न होता तो मानव शरीर ही हमें क्यों दिया जाता । दयामय की अपार दया है जिसने हमें मुक्ति का अधिकारी बनाया । इस अधिकार को पाकर भी यदि हम उस दयामय की दया की अवहेलना कर अपने समय को व्यर्थ भोग, प्रमाद, पाप और आलस्य में बितावें तो उसे मूढ़ता के अतिरिक्त और क्या कहा जाये ?

आहार, निद्रा और मैथुनादि तो प्रायः सभी योनियों में प्राप्त होते ही रहते हैं, फिर मानव शरीर को पाकर भी यदि जीव उन्हीं विषयों में अपना जीवन बिताता रहे तो फिर उस मनुष्य में और पशु

में अन्तर ही क्या रह जाता है । कुतिया के साथ कुत्ते को सुख प्राप्त होता है, वही राजाओं को रानी के साथ और इन्द्र को इन्द्राणी के साथ प्राप्त होता है । पुष्पों की सुकोमल शय्या पर सोने में जो सुख विलासी मनुष्य को मिलता है, वही सुख गदहे को घूरे की राख पर लौटने में मिलता है ।

नाना प्रकार के मेवा-मिष्ठान्न खाने में मनुष्य को जो आनन्द मिलता है, वही आनन्द कुत्ते, कौवे आदि पशु-पक्षियों को अपने अपने आहार में मिलता है । प्रभु कृपा के फलस्वरूप दुर्लभ मानव शरीर को और ऐसी मानवी बुद्धि को पाकर भी यदि हम इन पशु पक्षियों की भाँति आहार, निद्रा, मैथुनादि को ही सर्वोत्तम सुख समझकर इन्हीं में अपना समय बितावें तो वास्तव में हमारा दर्जा इन पशु पक्षियों से भी बहुत नीचा हो जाता है । क्योंकि उन बेचारों में तो इस प्रकार समझने और विचार करने की बुद्धि नहीं है । इसीलिये वे इतने दोषी नहीं हैं । परंतु मनुष्यत्व के अभिमान को रखने वाला प्राणी यदि उन्हीं की भाँति आचरण करता है तो उसके लिए यह अत्यन्त ही शोक और लज्जा की बात है ।

याद रखो ! व्यक्ति की आयु सीमित है और वह भी बहुत ही कम है । अधिक-से-अधिक वर्तमान समय में सौ वर्ष की आयु मानी गई है । वह भी आजकल सौ पीछे लगभग पाँच को भी प्राप्त नहीं होती । इस आयु का कितना अंश तो लड़कपन में ही बीत जाता है । वृद्धावस्था में साधन प्रायः बन ही नहीं पड़ता । जो लोग यह मानते हैं कि हम वृद्धावस्था में साधन कर लेंगे, वे बहुत भूल करते हैं ।

बचा हुआ समय भी अनेक प्रकार के विघ्न-बाधाओं से पूर्ण है । हमारे पूर्व संचित पाप, वर्तमान की कुसंगति और विषयासक्ति के कारण विघ्न बाधाएं आती ही रहती हैं । शरीर भी सदा नीरोग नहीं रहता । व्यक्ति की बुद्धि और उसके विचार भी सदा एक-से नहीं रहते । कुसंग में बुद्धि बिगड़ ही जाती है और जगत् में प्रायः कुसंग ही अधिक होता है । आलसी, भोगी, प्रमादी, दुराचारी, अहंकारी और

नास्तिक मनुष्यों का संग ही कुसंग है। फिर पता नहीं मौत किस क्षण में आ जाये। ऐसे घोर विघ्नों से बचकर इतने अल्पकाल में अपनी लक्ष्यसिद्धि वही बुद्धिमान् पुरुष कर सकता है जो सब ओर से मन हटाकर अत्यन्त तत्परता के साथ सम्पूर्ण रूप से लक्ष्य प्राप्ति में ही लग जाये। वास्तविक बुद्धिमान वही है जो ऐसे अमूल्य समय का एक भी क्षण आलस्य में न बिताकर प्रतिक्षण अपने लक्ष्य पर लगा रहता है। मनुष्य की अपनी इस आयु का एक-एक क्षण बड़ी सावधानी के साथ उस प्रकार परमावश्यक साधना में लगाना चाहिये जिस प्रकार कोई अत्यन्त ग़रीब और आजीविका से रहित कंजूस व्यक्ति अपने थोड़े से सीमित पैसों को आवश्यक कार्य में ही व्यय करता है। समय की अमूल्यता के रहस्य को जानने वाले पुरुष कदापि समय का व्यर्थ व्यय नहीं कर सकते। अतएव हम लोगों को चाहिये कि मृत्यु के समीप पहुँचने और वृद्धावस्था को प्राप्त होने के पहले-पहले ही तत्परता से प्रयत्न करके अपनी लक्ष्यसिद्धि कर लें। नहीं तो पीछे बड़ा भारी पश्चाताप करना पड़ेगा। जैसे तुलसी दास जी ने लिखा है–

**सौ परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।**
**कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ।।**

उत्तरकाण्ड 43.23

श्रीराम बता रहे हैं कि मानव शरीर पाकर भी जो श्रेय के लिये प्रयत्न नहीं करता उसका क्या परिणाम होता है कि वह व्यक्ति यह देह छोड़ने के पश्चात् अगले लोक नरक में या नारकीय योनि में पहुँच कर दुःख भोगता है तथा अपनी भूल के लिये सिर पीट-पीट कर पछताता है कि मैं ऐसा अवसर पाकर क्यों चूक गया। कभी वह समय चक्र को, कभी भली बुरी गति देने के लिए उत्तरदायी ईश्वर पर दोष लगाता है कि मुझे यह दुःख दिया। वह विचार नहीं करता कि मैंने सद्गति पाने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया है।

अतः मुनि श्री तरुणसागर जी फरमाते हैं–

**समय अमूल्य है। ज़िन्दगी में एक वर्ष का क्या महत्व है? यह इसी**

**वर्ष फेल हुए विद्यार्थी से पूछिए। एक माह का महत्व जानना है तो उस माँ से मिलिए जिसने ''अठ-मासिया'' बच्चे को जन्म दिया है। सात दिन का महत्व जानना है तो किसी साप्ताहिक पत्र के सम्पादक से मिलिए। एक दिन का महत्व वह दिहाड़ीदार मजदूर ही बता सकता है जिसे आज मजदूरी नहीं मिली है। एक घंटे का महत्व जानना है तो सिकंदर से पूछिए जिसने आधा राज्य देकर भी एक घंटे मौत को टालने का आग्रह किया था। एक मिनट का महत्व उस भाग्यशाली से पूछिए जो वर्ल्ड ट्रेड सैंटर की इमारत गिरने से ठीक एक मिनट पहले ही बाहर सुरक्षित निकला है। अब बचा एक सैकंड। तो एक सैंकड का महत्व उस धावक से पूछिए जो एक सैकंड की वजह से स्वर्ण पदक पाते-पाते रजत पदक पर रह गया है।** कड़वे प्रवचन भाग-1 पृष्ठ 21

अभी बहुत अच्छा मौका है क्योंकि इस घोर कलिकाल में निष्काम भाव से किया हुआ थोड़ा-सा भी भगवद्भजनरूप साधन कल्याणकारी माना गया है। जिस पर प्रभुकृपा न हो तो पार ही नहीं हो सकता है। इतने पर भी यदि हम उसकी दया, प्रेम और प्रभाव के रहस्य को समझकर उसका भजन करने के लिये कटिबद्ध न हों तो फिर कर्मों के और समय के मत्थे दोष मढ़ना सर्वथा असंगत है। अतएव उठो, सावधान होओ और महर्षियों द्वारा बतलाये हुए अपने लक्ष्य सिद्धि के लिए कमर कस कर प्रयत्न में लग जाओ।

आज से कल और कल से परसों यों उत्तरोत्तर जो आत्मोन्नति के पथ पर आगे बढ़ते हैं, वे बुद्धिमान हैं। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्रों में बताई हुई बातों में जो सर्वोत्तम प्रतीत हों उन्हीं के आचरण में अपना समय लगाना चाहिये। साथ ही अपनी दृष्टि में जो शास्त्रानुमोदित लक्षणों वाले महापुरुष हों, उनके बतलाये हुए पथ पर चलना चाहिये। ऐसे महापुरुषों को उत्तम गुण और उत्तम आचरणों का अनुकरण करना चाहिये। यदि उत्तम पुरुषों का समागम न मिले

तो पूर्व में होने वाले श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़कर उनके गुण और आचरणों को आदर्श मानकर तदनुसार अपने जीवन को उत्तरोत्तर सर्वोत्कृष्ट बनाते रहना चाहिये। जब तक जीवन रहे तब तक आगे बढ़ता ही रहे। कहीं पर यह न मान बैठे कि मेरी सर्वोपरि उन्नति हो गई, इसके आगे और कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसा मानना उन्नति के मार्ग को रोक देता है। रोक देना ही नहीं, इस प्रकार मान बैठने वाले अनेकों व्यक्ति अपनी स्थिति से ही गिर जाते हैं।

मानवी बुद्धिरूपी गज से वास्तविक उन्नति का माप हो ही नहीं सकता। वह गज उसकी सीमा तक नहीं पहुँच सकता। जहाँ सीमा शेष हो जाती है, देहाभिमान का सर्वथा नाश हो जाता है, वहाँ तो इस बात को मानने वाला या कहने वाला कोई धर्मी रह नहीं जाता कि मुझको अब कोई कर्तव्य नहीं है और जब तक देहाभिमान है अर्थात् जब तक देह को आत्मा मानने वाला या देह का स्वामी बना हुआ कोई धर्मी है तब तक कर्तव्य का अन्त मान लेना बड़ी भारी भूल है। जब तक शरीर में किसी भी रूप में अपनी व्यवस्था करने वाला, अपनी स्थिति समझने वाला कोई धर्मी है, तब तक उसको उत्तरोत्तर उन्नति के प्रयत्न में लगे रहना चाहिये। जो पुरुष परमात्मा को तत्व से जानकर उसे प्राप्त हो जाता है, यद्यपि उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता तथापि लोक उद्धार के लिए उसके द्वारा भी कर्म होते रहते हैं। अवश्य ही उसके कर्म अकर्म ही बतलाये गये हैं।

उन्नति चाहने वाले पुरुष के लिये कर्तव्य की समाप्ति कभी होती ही नहीं। संसार में निषिद्ध कर्म करने वालों की अपेक्षा निषिद्ध कर्म न करने वाले उत्तम हैं, उनसे उत्तम वे हैं जो धन, पुत्र, स्त्री, मान, बड़ाई या स्वर्गादि की कामना से उत्तम आचरण और प्रभुभक्ति करते हैं। उनसे वे श्रेष्ठ हैं जो सदाचार पालन और प्रभु भक्ति करते समय प्रभु से कुछ भी नहीं मांगते। परंतु पीछे किसी संकट में पड़ने पर उस संकट की निवृत्ति के लिये ईश्वर से याचना करते हैं। उनसे भी वे

श्रेष्ठ हैं, जो आत्मोद्धार के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात के लिए कभी इच्छा नहीं रखते। वे तो अति श्रेष्ठ हैं, जो ईश्वर के तत्व को जानकर बिना किसी हेतु के स्वाभाविक ही प्रभुभक्ति और सदाचार का प्रेमपूर्वक पालन करते हैं और उन महापुरुषों के लिये तो कुछ कहना ही नहीं बनता, जो ईश्वर को प्राप्त हो चुके हैं। ईश्वर प्राप्त पुरुषों में भी वे सर्वोत्तम हैं, जिनको ईश्वर की ओर से संसार में सदाचार और भक्ति के प्रचार के लिये अधिकार प्राप्त है।

अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह सर्वोत्तम पुरुष को अपना आदर्श ओर ध्येय मानकर उनके आचरण और गुणों का अनुकरण तथा उनकी आज्ञा का पालन करते हुए अपने जीवन को उत्तरोत्तर उन्नत बनाने में ही अपना समय लगावे। इसी में व्यक्ति की बुद्धिमत्ता है।

इस प्रकार की सर्वोच्च उन्नति के लिए अर्थात् श्रीपरमात्मा की प्राप्ति के लिए श्रद्धा और प्रेम की सबसे बढ़कर आवश्यकता है। श्रद्धा पहले होती है, तभी प्रेम होता है। सबसे उत्तम श्रद्धा के पात्र तो परमेश्वर ही हैं। दूसरे वे भी श्रद्धा के पात्र हैं जिनके संग से हमारी परमेश्वर में श्रद्धा होती है। जिनको परमेश्वर की प्राप्ति हो चुकी है अथवा जो परमेश्वर की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। परमेश्वर, साधु-महात्मा और उनके वचन, आचरण तथा गुणों में जो प्रत्यक्षवत् विश्वास और उच्च भाव है, उसी का नाम श्रद्धा है। जैसे एक पत्थर है और किसी महापुरुष ने उसे पारस बतला दिया, तो ऐसी अवस्था में महापुरुष में श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति को वह पत्थर उसी क्षण पारस ही दीखने लगता है, अर्थात् हमने एक चीज को देखा है, सुना है और समझा है, उसी चीज को यदि महापुरुष दूसरी चीज (हमारे प्रत्यक्ष अनुभव से विपरीत) बतावें और उनके बतलाते ही हमारे मन में और हमारी दृष्टि में हमारी समझी हुई चीज न रहकर महापुरुष की बतलाई हुई चीज ही प्रत्यक्ष हो जाये तो यह सर्वोत्तम श्रद्धा है। चीज

वैसी दीखे तो नहीं, परंतु श्रद्धा के कारण विश्वास कर लिया जाये, यह मध्यम श्रद्धा है और महापुरुष के द्वारा बतलाई हुई बात में विश्वास करने की कोशिश करना कनिष्ठ श्रद्धा है। हमें महापुरुषों में श्रद्धा करनी चाहिये। परंतु आजकल प्रथम तो संसार में परमेश्वर की प्राप्ति वाले महापुरुष हैं ही बहुत कम। यदि कोई हैं तो उनका मिलना कठिन है और मिल भी जाये तो उनको पहचानना अति दुर्लभ है। यदि दैवयोग से हमें महापुरुष मिल भी जायें तो प्रभु कृपा समझनी चाहिये। न मिले तो उनके दिये हुए सदुपदेश और उनके जीवन के शुद्ध आचरणों को आदर्श मानकर उनमें श्रद्धा करनी चाहिये। इस मार्ग में चलने वाले साधकों का संग भी बहुत सहायक होता है। उनमें भी यथायोग्य श्रद्धा रखनी चाहिये।

श्रद्धा से प्रेम तो आप ही हो जाता है। ईश्वर के प्रति किया हुआ प्रेम तो ईश्वर में है ही, परंतु ईश्वर की प्राप्ति के उद्देश्य से आप्त पुरुषों में, साधकों में और शास्त्रों में जो प्रेम किया जाता है, वह भी प्रकारान्तर से ईश्वर में ही है। अवश्य ही प्रेम स्वार्थरहित होना चाहिये। स्वार्थरहित प्रेम से ही परमात्मा की शीघ्र प्राप्ति होती है। अपने प्रेमास्पद के गुण, स्वभाव, आचरण, नाम और स्वरूप का श्रवण, पठन और चिन्तन होते ही शरीर में रोमांच, अश्रुपात, कम्प, कण्ठावरोध, प्रफुल्लता आदि लक्षणों का प्रकट हो जाना प्रेम के बाहरी चिह्न हैं। संयोग में परम प्रसन्नता, परम शान्ति और विस्मृति आदि होना तथा वियोग में परम व्याकुलता, अत्यन्त असहनशीलता और निरन्तर चिन्तन आदि होना प्रेम के भीतरी चिह्न हैं। प्रेमास्पद के ध्यान में परम शान्ति और आनन्द तथा व्यवहारकाल में उसके नाम, रूप, गुण और आचरणों का सतत् स्मरण एवं उसके अनुकूल आचरण आदि प्रेम को बढ़ाने वाले हैं। इन सबके मूल में श्रद्धा रहती है। श्रद्धा और प्रेम परमेश्वर के तत्व, रहस्य, प्रभाव और गुणों को समझने से होते हैं। अतएव अब हमें तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुण

के संबंध में कुछ विचार करना चाहिये । परमात्मा के तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणों का विस्तार अनन्त है और यह बड़ा ही गूढ़ विषय है । अतः इस पर सूक्ष्म बुद्धि से विचार करना चाहिये ।

**तत्त्व**

जैसे जल के परमाणु, बादल, जल और बर्फ यह सब तत्त्व से एक जल ही हैं । वैसे ही अनिवर्चनीय, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और मनोहर साकार विग्रह सब एक परमात्मा ही है । आकाश शुद्ध निर्मल है, उसमें परमाणु रूप से जल है, परन्तु वह न तो नेत्रों द्वारा दीखता है और न किसी यंत्र द्वारा दिखायी देता है तथापि उसका होना विज्ञानसिद्ध है वही जल जब बादल के रूप में आता है तब भी जल तो नहीं दीखता, परंतु विचार करने से यह बात समझ में आ जाती है कि बादल में जल है । फिर हवा के संसर्ग से वह बरसने लगता है । वही जल सर्दी पाकर बर्फ के रूप में आ जाता है । ऐसे ही ब्रह्म अनिवर्चनीय, अलक्ष्य, अचिन्त्य और गुणातीत है, उसके किसी एक अंश में गुण का संबंध सा प्रतीत होता है । अर्थात् अनन्त ब्रह्म के किसी एक अंश में सत्व-रज-तम त्रिगुणमयी प्रकृति । (अव्याकृत माया) स्थित है ।

उसी ब्रह्म के अंश को सगुण ब्रह्म कहा जाता हैं इस मायाविशिष्ट ब्रह्म को ही सगुण-निराकार ब्रह्म समझना चाहिये । अव्याकृत माया निराकार है, परन्तु वह है गुणमयी, इसीलिये उससे सम्बन्ध रखने वाला ब्रह्म सगुण निराकार माना गया है । सत्-चित्-आनन्द स्वरूप से इसी सगुण निराकार ब्रह्म की उपासना की जाती है । गुणातीत की उपासना नहीं बन सकती । क्योंकि गुणों से अतीत वस्तु किसी का विषय नहीं हो सकती । परन्तु गुणातीत के भाव को लक्ष्य में रखकर सगुण, निराकार की उपासना की जाती है । उसी का फल गुणातीत शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति बतलाया गया है । वह विज्ञानानन्द घन सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म ही अपनी इच्छा से तेजोमय प्रकाशस्वरूप में आता है । उसको ज्योतिर्मय भी कहते हैं । सूर्य, चन्द्र

आदि सम्पूर्ण ज्योतिषियों का प्रकाशक होने के कारण उसे ज्योतियों का ज्योति कहा गया है ।

जैसे परमाणु, बादल, जल और बर्फ तत्त्व से विचार करने पर एक जल ही है । इन सबको लेकर ही जल का एक समग्र रूप है । इसी प्रकार गुणातीत, सगुण निराकार ज्योतिर्मय और सगुण साकार सब मिलकर ही एक समग्र ब्रह्म है । इस समग्र को उपर्युक्त रूप से जानना ही परमात्मा को तत्त्व से जानना है । परंतु यह बात ध्यान में रहे जैसे जल जड़, विकारी और अनित्य है, वैसे परमात्मा जड़, विकारी और अनित्य नहीं है । संसार में कोई दूसरा उसकी तुलना में उदाहरण नहीं है इसलिये जल का उदाहरण समझाने के लिए दिया गया है ।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि के शरीर, वृक्ष, पहाड़, वनस्पति एवं सोना, चाँदी आदि वस्तुएं और घट-घटादि सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थ एक पृथ्वी के ही रूपांतर हैं, इन सब की उत्पत्ति मिट्टी से होती है और अन्त में ये सब मिट्टी में ही जाकर समाप्त हो जाते हैं । विज्ञान के द्वारा विचार करके देखने से वर्तमान काल में भी सब मिट्टी ही सिद्ध होते हैं । इस समग्र का नाम जैसे पृथ्वी है, इसी प्रकार निर्गुण, सगुण, साकार आदि समग्र का नाम परमेश्वर है । जो साकार-सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्रह्म को एकदेश मात्र में मानकर निर्गुण-निराकार और सगुण-निराकार की निन्दा करते हैं, वे ब्रह्म की ही निन्दा करते हैं । इसी प्रकार जो निर्गुण-निराकार के उपासक निर्गुण के अतिरिक्त निराकार और साकाररूप सगुण ब्रह्म को उससे भिन्न समझकर निन्दा करते हैं, वे भी उसी ब्रह्म की निन्दा करते हैं । अतएव वे दोनों ही ब्रह्म के तत्व को नहीं जानते । प्रभु की शरण लेकर किसी भी रूप की उपासना करने वाले श्रद्धालु पुरुष उस समग्र ब्रह्म को जानकर उसे प्राप्त हो जाते हैं । जैसे–

**जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।**
**ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमय्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।**
**साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं चये विदुः ।**
**प्रयाणकालेऽपि चमां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।** (गीता 7/29.30)

जो मेरी शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं । जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव के सहित तथा अधियज्ञ के सहित सबका आत्मरूप । मुझे अन्तकाल में भी जानते हैं वे युक्तचित्त वाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ।

**रहस्य**

परमात्मा का रहस्य अद्‌भुत एवं अनुपम है । वह प्रभु कृपा से यत्किंचित् जाना जा सकता है । रहस्य छिपे हुए तत्त्व को कहते हैं । रहस्य हर किसी को नहीं बतलाया जाता । कोई भी व्यक्ति अपनी पूंजी का रहस्य पूछने पर भी अपने परम विश्वासी और अन्तरंग प्रेमी के अतिरिक्त और किसी को नहीं बतलाता । साधु महात्मागण भी अपनी स्थिति का हाल बिना अधिकारी के नहीं कहते । प्रभु भी अपने अधिकारी प्रिय भक्त को ही अपना रहस्य बतलाते हैं । श्रीकृष्ण ने गीता में जहाँ पर ऐसा कहा है कि यह 'रहस्य का विषय' है । यह 'गोपनीय है', 'यह गुह्यतम' या 'सर्वगुह्यतम' है, वहाँ-वहाँ पर यही तत्त्व बतलाया है कि मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ, तू मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही शरण हो आदि । इस प्रकार अपनी वास्तविक स्थिति अपने प्रिय प्रेमी को बतला देना ही वास्तविक रहस्य खोल देना है । जैसे गीता के अध्याय 4 के श्लोक 1 से 14 तक में श्रीकृष्ण ने यह रहस्य समझाया है कि मैं पृथ्वी का भार हरण करने, साधुओं का परित्राण करने और धर्म की संस्थापना करने के लिए लीला से प्रकट होता हूँ ।

इसी तरह अन्यान्य भक्तों को भी परमात्मा ने समय-समय पर अपना रहस्य बतलाया है। जो मनुष्य गुरु, शास्त्र, संत या सत्संग आदि किसी भी साधन से ईश्वर के रहस्य को यानी छिपे हुए परम तत्त्व को समझ जाता है वह फिर एक क्षण के लिये भी ईश्वर को नहीं भूल सकता। वह नित्य-निरन्तर ईश्वर को ही भजता है। वह जान लेता है कि ईश्वर ही सर्वोत्कृष्ट है। सर्वोत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को कौन बुद्धिमान भजेगा? एक खान है, उसमें सोना, चांदी, तांबा, लोहा, पत्थर, कोयला आदि कई चीजें हैं। जिसको जिस चीज की इच्छा हो वह उससे वही बीज निकाल सकता है। खोदने आदि का परिश्रम एक सा ही है और समय भी समान ही लगता है। ऐसी अवस्था में कोई मूढ़ व्यक्ति भले ही सोने को छोड़कर पत्थर, कोयला आदि निकालने लगे। सोने के तत्त्व को जानने वाला बुद्धिमान् पुरुष तो एक मिनट के लिये भी दूसरी चेष्टा न करके सोना निकालने में ही लग जायेगा। इसी प्रकार ईश्वर के तत्त्व रहस्य को जानने वाला पुरुष यह समझ जाता है कि ईश्वर से बढ़कर और कोई भी वस्तु नहीं है, इसलिए वह सबसे मुँह मोड़ कर केवल ईश्वर के भजन में ही लग जाता हैं श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं–

**यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।**

**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।** (गीता 15/19)

हे अर्जुन! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्व से पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव को ही भजता है।

वास्तव में सारा विश्व परमेश्वर का ही स्वरूप है। किंतु इस रहस्य को लोग जानते नहीं इसी से संसार के विविध रूपों को देखकर सुखी-दुःखी होते हैं। एक बहुरूपिया था वह पुलिस के किसी बड़े अफसर का स्वाँग धरकर बाजार में पहुँचा। एक दूकानदार का माल

सड़क पर पड़ा था । बहुरूपिये ने वहाँ जाकर दूकानदार को धमकाना शुरू किया कि तुमने सड़क रोक रखी है । अतएव तुम पर मुक़द्दमा चलाया जाएगा । दूकानदार डरकर कांपता हुआ खुशामदें करने लगा । बहुरूपिये का स्वांग सफल हो गया । तब उसने अपना यथार्थ परिचय देकर दूकानदार से इनाम मांगा । बस, बहुरूपिये का परिचय मिलते ही दूकानदार निर्भय होकर हँसने लगा । उसकी सारी विकलता क्षणभर में हँसी के रूप में बदल गई । बहुरूपिया अब भी अफसर के वेष में ही है, वही रूप दुकानदार को दीख रहा है, परंतु रहस्य खुल जाने से भाव में महान् अन्तर पड़ गया । इसी प्रकार परमेश्वर अपनी योगमाया से विश्वरूप बने हुए क्षण-क्षण में स्वांग बदल रहे हैं और लोग उनका रहस्य न जानने के कारण डरते और व्याकुल होते हैं । यदि हम प्रत्येक रूप में परमात्मा को पहचान लें, परमात्मा का यह रहस्य हमारे लिये खुल जाए तो फिर कोई भी भय या व्याकुलता नहीं रह सकती । जैसे बहुरूपिया अपना भेद खोल देता है, वैसे ही परमात्मा भी जब दया करके अपना रहस्य खोल देते हैं, तब भक्त उसी क्षण निर्भय और सुखमय बन जाता है, क्योंकि वह फिर सर्वत्र, सब समय, केवल एक आनन्दरूप परमात्मा को ही देखता है ।

**प्रभाव**

सामर्थ्य, शक्ति विशेष या तेज को प्रभाव कहते हैं । ईश्वर का प्रभाव अपरिमेय है । इसीलिये कहा जाता है कि ईश्वर असम्भव को सम्भव कर सकते हैं । सारे संसार का उद्धार होना असम्भव सा है । परंतु ईश्वर चाहें तो एक ही क्षण में कर सकते हैं । क्योंकि वे अपरिमित प्रभावशाली और सर्वशक्तिमान हैं । उनके पूर्ण प्रभाव को देव, दानव और महर्षिगण भी नहीं जानते । वे स्वयं ही अपने आपको जानते हैं । एक क्षण में वे सारे संसार का सृजन और संहार कर सकते हैं । श्रुति, स्मृति, गीता आदि ग्रंथों में उनके प्रभाव का वर्णन भरा पड़ा है । सारी शक्तियाँ उन्हीं की शक्ति का एक अंश है । परमात्मा का

वास्तविक प्रभाव परमात्मा की शरण लेने पर प्रभु कृपा से ही जाना जा सकता है । अतएव हम सबको प्रभु भक्ति करनी चाहिये ।

**गुण**

परमेश्वर गुणातीत है और सर्व-सद्गुणों से परिपूर्ण हैं । उनके गुण अनन्त हैं, असीम हैं, शेष-शारदा आदि भी उनके गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हैं । मुझ सरीखा साधारण मनुष्य क्या वर्णन करे? उनके गुणों का वाणी से वर्णन वैसा ही है जैसे अनन्त धनराशि के स्वामी को लखपति कहना अथवा सूर्य को जुगनू के समुदाय की उपमा देना । उस अनन्त गुणसागर प्रभु के एक गुण का भी भलीभांति समझना और समझाना अत्यन्त ही कठिन है, फिर सब गुणों का वर्णन तो हो ही कैसे सकता है? तथापि शास्त्रों के आधार पर कुछ लिखा जाता है ।

परमात्मा परम प्रेममय है । सारे संसार का प्रेम एक जगह इकट्ठा किया जाये तो वह भी प्रेममय प्रभु के प्रेमसागर की एक बूँद के समान भी शायद ही हो । परमात्मा का प्रकाश अलौकिक है । करोड़ों सूर्य के इकट्ठे होने पर भी शायद ही उनके सदृश प्रकाश हो । समस्त संसार को एक सूर्य प्रकाशित करता हैं ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के अनन्तकोटि सूर्यों को प्रकाश देने वाले परमेश्वर के प्रकाश को समझाने का प्रयास करना खद्योतमण्डली के प्रकाश से सूर्य के प्रकाश को समझाने की चेष्टा के समान ही है ।

सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान की तो बात ही विलक्षण है । वह ज्ञानरूप ही है । सारे संसार के जीवों का ज्ञान एकत्र करने पर भी उसे परमात्मा के ज्ञान के एक क्षुद्र परमाणु का आभास बतलाना भी अतिशयोक्ति न होगी ।

परमात्मा की उदारता का तो कहना ही क्या है? विष देने वाली पूतना को भी जिसने परमगति दी उसकी उदारता का अनुमान कैसे लगाया जाये? अभय तो परमात्मा का स्वरूप ही है । जिस प्रभु के रहस्य और प्रभाव को जान लेने मात्र से अथवा जिसके नाम स्मरण से ही मनुष्य सदा के लिये अभय हो जाता है, उस अभयरूप प्रभु के

अभय गुण को कैसे समझाया जाये । दया के तो आप सागर ही हैं । पापी से पापी जीव भी यदि उनके शरण चला जाता है तो उसे सदा के लिये पापमुक्त कर अपना अभयपद दे देते हैं । जिसको कोई नहीं अपनाता उसे भी शरणागत होने पर प्रभु अपना लेते हैं ।

परमात्मा की पवित्रता का अनुमान कौन करे? जिनके नाम-जप, गुण-गान और स्वरूप चिन्तन से महापापी मनुष्य भी परम पवित्र बन जाता हैं इसीलिये पितामह भीष्म ने ''पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्' कहा था । उस प्रभु की पवित्रता का स्वरूप कैसे बतलाया जाये?

अद्वेष्टा तो आपका स्वभाव ही है । द्वेष की आपमें गंध ही नहीं है । द्वेष करने वालों को भी आप दण्ड देकर उद्धार करते हैं । परमात्मा की तो बात ही क्या है? परमात्मा के भक्तों का भी स्वाभाविक धर्म अपकार करने वालों का उपकार करना होता है । सत्य तो प्रभु का स्वरूप ही है । सारे संसार में जो सत्ता प्रतीत होती है उसके वही अधिष्ठाता हैं । सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पृथ्वी आदि सब जिस सत्य के आधार पर स्थित हैं, वह सत्य उस परमात्मा का ही स्वरूप है । सारा संसार उन सत्यस्वरूप परमात्मा के सत्य के आधार पर ही स्थित है ।

परमात्मा परम वैराग्यवान् है । गुणमय समस्त संसार को धारण करके भी आप गुणों से सर्वथा अतीत हैं । सारा संसार जिनका कुटुम्ब है, ऐसे सबका भरण-पोषण करने वाले बहुकुटुम्बी होने पर भी आप किसी में आसक्त नहीं हैं । सदा सबसे निर्लेप रहते हैं । परमात्मा बड़े अमानी हैं । सम्पूर्ण लोकों के परम माननीय होने पर भी स्वयं सर्वथा अमानी है और सबको मान देते है । । इसी से आपके नाम हैं—'अमानी मानदः ।'

दानशीलता तो आपकी अनोखी ही है । कल्पवृक्ष से भी उसकी उपमा नहीं की जा सकती, क्योंकि कल्पवृक्ष तो मुँहमांगा बुरा-भला दे देता है, वह हिताहित नहीं देखता । परंतु आप तो ऐसे हैं कि बुरी चीज

तो मांगने पर भी नहीं देते । नारद जी को विवाह नहीं करने दिया और उचित समझने पर, थोड़ा मांगने वालों को भी बहुत दे देते हैं । जैसे ध्रुव को राज्य मांगने पर आपने मुक्ति भी दे दी ।

शान्ति और आनन्द तो भगवान् का स्वरूप ही है,जिसके शरण होने से मनुष्य परम शान्ति और परम आनन्द को प्राप्त हो जाता है उसके शान्ति और आनन्द की उपमा किसके साथ की जाये ?

अंततः उपरलिखित विवेचन व विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानव जीवन में समय बहुत मूल्यवान है । यहाँ तक कि यह धन से भी अधिक मूल्यवान है क्योंकि खोया हुआ धन तो वापस आ सकता है । परन्तु गुजरा हुआ वक्त किसी भी कीमत पर वापस नहीं आ सकता । अतः हमें अपने मूल्यवान समय के एक-एक क्षण का सदुपयोग करना चाहिये । एक अंग्रेजी लेखक ने लिखा है–

**The greatest gift you can give to some one is your time because it is time giving a portion of your life that you can never get back.**

इसी प्रकार एक हिन्दी कवि के शब्दों में –

**सब कुछ का मोल है समय अमूल्य पिछान ।**
**समय व्यर्थ न खोवत, सो जाने चतुर सुजान ।।**

# 3. समता

साधक की उच्चस्थिति के लिये समभाव परम अत्यावश्यक है। राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होने पर ही समभाव प्राप्त हो सकता है। इसलिये श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है कि साधक को राग-द्वेष के वश में नहीं होना चाहिये। ये दोनों परिपंथी अर्थात् साधना के विरोधी हैं। (गीता 3/34)। इनसे रहित होकर कर्त्तव्य का पालन करने वाला व्यक्ति निःसन्देह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। (गीता 2/60-65)। अतः साधक को चाहिये कि राग-द्वेष का सर्वथा त्याग करके अपने हृदय में समभाव की स्थापना करे। समता ही वास्तव में योग है (गीता 2/48) श्रीकृष्ण ने ध्यानयोग का वर्णन आरम्भ करने के पहले इस समभाव का महत्व इस प्रकार वर्णन किया है–

**जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।**
**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थोविजितेन्द्रियः।**
**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।**
**सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।**
**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।** गीता 6/7-8-9

सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भली-भाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है। अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकार रहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान है वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है। सुहृद् मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष और बन्धुगणों में, धर्मात्माओं में और पापियों में भी

समान भाव रखने वाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

इसके अतिरिक्त गीता में श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त का लक्षण करते हुए भी स्पष्ट कहा है–

**समः शत्रौ चमित्रे च तथा मानापमानयोः ।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ।।**
**तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।**
**अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिान्मे प्रियो नरः ।।** (गीता12/18-19)

जो शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख में सम है और आसक्ति से रहित है, जो निन्दा स्तुति को समान समझने वाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट है और शरीर में तथा रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है– यह स्थिरबुद्धि भक्तिवान पुरुष मुझको प्रिय है ।

इस प्रकरण में हर्ष, शोक, द्वेष, चिन्ता और कामना का अभाव दिखाकर भी राग-द्वेष के अभाव का और समता का ही महत्व प्रकट किया गया है तथा गुणातीत, भगवत्प्राप्त पुरुष का लक्षण करते हुए भी स्पष्ट कहा है कि–

**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।**
**तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।**
**मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।**
**सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।** (गीता 14/24-25)

जो निरन्तर आत्मभाव में स्थित, दुःख-सुख को समान समझने वाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रिय को एक-सा मानने वाला और अपनी निन्दा-स्तुति में भी समान भाव वाला है । जो मान और अपमान में सम है, मित्र और वैरी के पक्ष में भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।

अतः साधक को चाहिये कि हरेक स्थिति में प्रभु का आश्रय लेकर सर्वत्र समभाव से प्रभु का चिन्तन करते हुए राग-द्वेष आदि विषम भावना का सर्वथा त्याग कर दे । किसी को भी बुरा न समझे और किसी के दोष न देखें । किसी के भी दोषों का वर्णन या चिन्तन न करे । अपने अन्तःकरण में समान भाव से सब प्राणियों के हित की भावना को स्थायी करें । श्रीकृष्ण ने निर्गुण-निराकार की उपासना का वर्णन करते हुए भी साधक को 'सर्वभूतहिते रताः' का विशेषण दिया है (गीता 12/4) । अध्याय 5 श्लोक 25 में भी विषमता के नाश को और समभाव से सब प्राणियों के हित में लगे रहने को परमात्मा की प्राप्ति का साधन माना है ।

गीता श्लोकों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट समझ में आ सकता है कि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता भय आदि सारे विकारों का मूल कारण विषमभाव ही है । अतः इसका सर्वथा त्याग करना साधक के लिये परम आवश्यक है ।

साधक को चाहिये कि अपनी अनुकूलता को पूरी करने के लिये आग्रह, इच्छा और कामना न करे । उसके पूरी न होने में चिन्ता, शोक, भय तथा अन्य किसी प्रकार की व्याकुलता आदि के भाव अन्तःकरण में उत्पन्न न होने दें । जैसे–

**न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।**
**स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।** गीता 5/20

जो पुरुष प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेता पुरुष सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है । गीता में भी समत्व का महत्व इस प्रकार वर्णन किया गया है–

**विद्याविनयसम्पन्ने ब्रह्मणे गवि हस्तिनि ।**
**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।**
**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।**
**निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।** गीता 5.18-19

जो ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी ही होते हैं, जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है । क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित हैं ।

लोगों के साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी सर्वत्र समदर्शन और समभाव को दृढ़ करने के लिये नीचे लिखे अनुसार साधना करनी चाहिये । जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर, और गुदादि के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादि का सा बर्ताव करता हुआ भी अपना आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होने से सुख और दुःख को समान ही देखता है, वैसे ही सब प्राणियों में देखना चाहिये । इससे यथायोग्य व्यवहार स्वाभाविक ही हो सकता है । प्रभु स्वयं भी सबमें समभाव रखते हुए यथायोग्य व्यवहार करते हैं । जैसे–

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।**
**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।** गीता 9/29

मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा प्रिय है और न अप्रिय है । परन्तु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।

गीता अध्याय 12 श्लोक 9 में भी अनुकूलता और प्रतिकूलता की प्राप्ति में सदैव चित्त की समता को ज्ञानयोग का साधन माना है तथा इसी अध्याय के श्लोक 27-28 में परमात्मा को सर्वत्र समभाव से स्थित देखने वाले की प्रशंसा की है और उसका फल परमगति की प्राप्ति बलताया है ।

वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि अनित्य है । उनका आचार लेने वाला, उनको अपना मानने वाला कोई भी साधक विषमता का

त्याग और समता की प्राप्ति नहीं कर सकता। ये सब प्रभुकृपा से प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्रसन्नता के लिये ही उनका सदुपयोग करना चाहिये। उनसे सम्बन्ध करके उनके द्वारा सुख भोगने की इच्छा करना पतन का मार्ग है। क्योंकि कोई भी कामना युक्त मनुष्य समता में स्थित नहीं रह सकता। अतः साधक को आसक्ति, कामना, ममता ओर भय का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इन सब दोषों की उत्पत्ति विषमता से होती है और वे विषमता को दृढ़ करते हैं। इसलिये साधक को इन सब दोषों के नाश करने के लिए संसार और शरीर को अनित्य और दुःखरूप समझकर उनसे वैराग्य करना चाहिये।

**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।**
**आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।** (गीता 5/22)

जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं तो भी दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

प्रभुकृपा से प्राप्त हुई सामर्थ्य और पदार्थों का प्रभु के लिये ही निष्काम भाव से सदुपयोग करने से भी आसक्ति का नाश हो जाता है। उनमें ममता के त्याग से नवीन आसक्ति नहीं उत्पन्न होती। इस प्रकार विद्यमान आसक्ति का नाश और नवीन राग की उत्पत्ति न होने से अनायास ही समत्व प्राप्त हो सकता है। क्योंकि विषमता का कारण राग-द्वेष ही है।

सुख-दुःख, लाभ-हानि, दिन-रात की भाँति आने-जाने वाली वस्तु हैं। उनसे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता। जिनसे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता– उनमें ममता, आशा, कामना या उनसे भय करना सर्वथा भूल है। इस भूल के कारण ही अनेक प्रकार की आसक्तियाँ,

क्षोभ, क्रोध, लोभ, भय, व्याकुलता, अशान्ति आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः साधक को सुख में आसक्ति और दुःख के भय को सर्वथा त्याग करके सदैव समता में स्थित रहना चाहिये। जैसे–

**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।**
**समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।** गीता 2/15

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते वह मोक्ष के लिये योग्य होता है। जैसे–

**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।**
**वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।** (गीता 2/56)

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है।

सुख-दुःख में सम रहने वाले साधक के राग-द्वेष का सहज में ही नाश हो जाता है। अपनी इच्छा की पूर्ति चाहने वाला न तो सुख-दुःख में सम रह सकता है और न अनुकूलता और प्रतिकूलता में ही सम रह सकता है। फिर वह अन्य किसी परिस्थित में भी कैसे समभाव रख सकता है। इसलिये–

**अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छापूर्वक प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ और भावों की प्राप्ति में राग-द्वेष से रहित होकर समभाव में स्थित रहना चाहिये।**

समता तीन प्रकार की होती है। परमात्मा के स्वरूप की, सिद्ध पुरुष के हृदय की और साधक के हृदय की। गीता अध्याय 5 श्लोक 19 में परमात्मा के स्वरूप की, अध्याय 6 श्लोक 9 में योगी महात्मा

के हृदय की, बारहवें अध्याय के श्लोक 18-19 में भगवत्प्राप्त भक्तों की, चौदहवें अध्याय के श्लोक 24-25 में गुणातीत महात्मा पुरुष की, दूसरे अध्याय के 15 तथा 18वें श्लोक में सांख्य योग के साधक की और दूसरे अध्याय के 48वें श्लोक में निष्काम कर्मयोग के साधक की समता का वर्णन है । सिद्ध पुरुष के हृदय में जो समता का भाव है, साधक के लिये वही साध्य है । इसलिये सब प्रकार से मनुष्य को समता का साधन विशेष रूप से करना चाहिये ।

# 4. अध्यात्म

**Spirituality does not exist on books or in theories or in philosophies. It is not in learning or reasoning but in actual inner growth.**

–Swami Vivekanand

**आध्यात्मिकता पुस्तकों, सिद्धान्तों, दर्शनों आदि में नहीं पाई जाती है। यह ज्ञान एवं तर्क में भी नहीं है। परन्तु मानव की वास्तविक आत्मिक उन्नति में निहित है।**

आत्मा क्या है? परमात्मा क्या है, इन दोनों का आपस में संबंध क्या है–इस विषय का नाम अध्यात्म है। आत्मा और परमात्मा दोनों ही भौतिक पदार्थ नहीं हैं। इन्हें आँख से देखा नहीं जा सकता, कान से सुना नहीं जा सकता, नाक से सूंघा नहीं जा सकता। जिह्वा से चखा नहीं जा सकता, त्वचा से छुआ नहीं जा सकता।

अध्यात्म साधना नहीं अपितु साधना की तैयारी है। अध्यात्म निहंकार की पराकाष्ठा है। वस्तुतः दर्शन व अध्यात्म हमारी थाती हैं। आनंद का स्रोत केवल अध्यात्म है। इसका अर्थ है स्वभाव और भौतिकवाद का अर्थ है प्रभाव। वस्तुतः भारतीय संस्कृति तीन 'द' पर आधारित है–दया, दान और दमन। इसके विपरीत पाश्चात्य संस्कृति तीन 'D' पर आधारित है। Drinking, Dancing and Dinning. याद रखो। भौतिकवाद में क्षणिक सुख तो है परन्तु सच्ची शांति एवं आनंद केवल अध्यात्मवाद में है। जैसे आचार्य श्री सुदर्शन जी लिखते हैं–

**कितना भी धन संग्रह कर लो, मन में शांति नहीं होती।**
**भरलो हीरा मोती घर में, किसी कफन के जेब नहीं होती।।**

–संगीतमय रामकथा (उत्तरकांड पृ० 715)

वस्तुतः अध्यात्म एक समस्त पद है और इसका विग्रह है–आत्मानम् + अधि। इसका का अर्थ है कि आत्मा को अधिकृत

कर जो भी कहा जाये उस का नाम अध्यात्म है । अध्यात्म शब्द में परिभाषा है तथापि इसको अधिक स्पष्ट करके देखा जाए तो अध्यात्म उस शास्त्र का नाम है जिसमें आत्मा पर व्यापक रूप से खोज की जाये । आत्मा क्या है? यह निश्चित् हो जाने के पश्चात् आत्मा की शुद्धि आत्मानुभूति, आत्मदर्शन इत्यादि समाविष्ट रहता है । इसकी मर्यादा संकुचित की जाये तो वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि इसमें आ जाते हैं । अतः अध्यात्मवाद विषय में एक लेखक ने लिखा है–

**अध्यात्मवाद एक विशेष प्रकार के विश्वास के प्रति आस्था है जो आत्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार करता है और जीवित मानव को अपने माध्यम से प्रभावित व संचालित करती है । मृत्यु के पश्चात् उसी की वास्तविक सत्ता विद्यमान रहती है और वही भौतिक द्रव्यों से पृथक् एक शाश्वत तत्त्व है । यह एक ऐसा विश्वास हे कि आत्मा ही वास्तविक तत्त्व है । द्रव्य के ऊपर से ओट हुआ पदार्थ है । अध्यात्मवाद दर्शन का आरंभिक रूप है । ऐसी धारणा है कि मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति की आत्मा शेष रहती है । वह शरीर से भिन्न तत्त्व है ।**

Canny, Manjice An Encylopaedia of
Religions Delhi 1976 P-333

अध्यात्म केवल पढ़ने का विषय नहीं है न ही वनों में बैठकर तपस्या करना ही है । वस्तुतः जीवन में किसी भी व्यक्ति का अध्यात्म से छुटकारा नहीं है । क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं के विषय में चिन्तन-मनन तो सदा करता ही रहता है । कोई भी व्यक्ति किसी भी अन्य व्यक्ति से दूर तो भाग सकता है परन्तु वह कभी भी स्वयं से दूर नहीं भाग सकता । ज्ञान व आचार ही सच्चा अध्यात्म है । अतः कहा भी गया है–

**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः ।**

चरित्रहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकता ।

आज हमारी आँखें विज्ञान एवं भौतिकवाद के प्रकाश से चकाचौंध है । आंतरिक मशीन को ठीक रखने के लिए अध्यात्मवाद ही आवश्यक है। परन्तु अध्यात्म के अभाव से अत्याचार, आतंकवाद, रंगभेद, जातिभेद की आग में हम जल रहे हैं और हम भौतिकवाद से तंग आकर अध्यात्मवाद की शरण में जा रहे हैं क्योंकि सच्ची शांति केवल अध्यात्मवाद में है । परन्तु जीवन के लिये दोनों का समन्वय परमावश्यक है । जब कोई सिद्ध पुरुष अपनी साधना के द्वारा भगवद्ध्यान में पहुँच जाता है तो उसे भौतिकवाद की आवश्यकता नहीं रहती ।

परमात्मा एक है अनेक नहीं । ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि उसी एक ईश्वर के नाम हैं । **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** (ऋग्वेद 1-164-46) । अर्थात् एक ही परमात्मा को विद्वान अनेक नामों से पुकारते हैं । संसार में जीवधारी प्राणी अनन्त हैं, इसलिये आत्माएं भी अनन्त हैं । न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख– ये छः गुण जिसमें हैं उसमें आत्मा है । ज्ञान और प्रयत्न आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, चार गुण इसमें शरीर के मेल से आते हैं । आत्मा की उपस्थिति के कारण ही यह शरीर प्रकाशित है, नहीं तो मुर्दा, अप्रकाशित और अपवित्र है । यह संसार भी परमात्मा की विद्यमानता के कारण ही प्रकाशित है ।

आत्मा और परमात्मा–दोनों ही अजन्मा व नित्य हैं । ये न कभी उत्पन्न होते हैं न ही कभी मरते हैं अपितु ये अमर हैं । इनके बनाने वाला कोई नहीं है । आत्मा परमात्मा का अंश नहीं है । हर आत्मा एक स्वतंत्र सत्ता है ।

आत्मा अणु है, बेहद छोटी है। परमात्मा आकाश की भाँति सर्वव्यापक है। आत्मा का ज्ञान सीमित है। परमात्मा सर्वज्ञ है वह सब कुछ जानता है। जो कुछ हो चुका है और हो रहा है और जो भविष्य में होने वाला है। अन्तर्यामी होने से यह सभी के मनों में क्या है यह भी जानता है। सृष्टिसृजन, पालन, प्रलय करना आदि अपने सभी काम करने में वह समर्थ है। पीर, पैग़ेम्बर, अवतार आदि नाम से कोई एजेंट या बिचौलिए उसने नहीं रखे हैं। ईश्वर सभी काम अपने अन्दर से करता है क्योंकि उसके बाहर कुछ भी नहीं है। ईश्वर जो भी करता है वह हाथ-पैर आदि से नहीं करता क्योंकि उसके ये अंग है ही नहीं। वह सब कुछ इच्छा मात्र से करता है।

प्रभु आनन्दस्वरूप है अपितु आनन्द प्रभु का पर्यायवाची शब्द है। वह सदा एक रस आनन्द में रहता है। वह किसी से राग-द्वेष नहीं करता। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, अंहकार से परे है। प्रभु की उपासना करने से अर्थात् उसके समीप जाने से आनन्द प्राप्त होता है। जैसे सर्दी में आग के पास जाने से सुख मिलता है। प्रभु निराकार है। उसे शुद्ध मन से जाना जा सकता है जैसे हम सुख-दुःख मन में अनुभव करते हैं।

यह आत्मा जब मानव शरीर में होती है तब वह कार्य करने में स्वतंत्र रहती है। उस समय किये कार्यों के अनुसार ही उसे परमात्मा सुख, दुःख तथा आगामी जन्म देता है। दूसरी योनियाँ या तो किसी दूसरे के आदेश पर चलती हैं या स्वभाव से काम करती हैं। उनमें विचार शक्ति नहीं होती। इसलिए उन योनियों में की क्रियाओं का उन्हें अच्छा या बुरा फल नहीं मिलता। वे केवल भोग योनियाँ हैं जो पहले किए कर्मों का फल भोग रही हैं। मानवयोनि में कर्म और भोग दोनों का मिश्रण है। अपितु मानव कर्म करने में स्वतंत्र और कर्मफल

भोगने में परतंत्र है ।

मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ । यह शरीर संसार में व्यवहार करने का साधन है । कर्ता और भोक्ता आत्मा है । सुख-दुःख आत्मा को होता है । जीवात्मा न स्त्रीलिंग है, न पुलिंग है और न ही नपुंसक है । यह जैसा-जैसा शरीर पाता है, वैसा-वैसा कहा जाता है । प्रभुपूजा ऐसे नहीं की जाती जैसे मनुष्यों की पूजा अर्थात् सेवा सत्कार किया जाता है । प्रभु की आज्ञा का पालन अर्थात् सत्य और न्याय का आचरण ही प्रभुपूजा है ।

**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।**

**बुद्धिं तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।** कठोपनिषद् 3.3

कठोपनिषद् में मानव शरीर की तुलना रथ से की गई है । इसमें आत्मा रथ का स्वामी है । बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं । इन्द्रियों के विषय वे मार्ग हैं जिन पर इन्द्रियाँ रूपी घोड़े दौड़ते हैं । आत्मा रूपी सवार अपने लक्ष्य तक तभी पहुँचायेगा । जब बुद्धि रूपी सारथी मन रूपी लगाम को अपने वश में रख के इन्द्रियाँ रूपी घोड़ों को सन्मार्ग पर चलाएगा । उपनिषद् में घोड़ा गाड़ी को रथ कहा जाता है और रथ पर सवार को रथी । मानव शरीर में आत्मा रथी है । जब आत्मा निकल जाती है तब शरीर मुर्दा रह जाता है ।

परमात्मा हम सबका माता, पिता और मित्र है । वह सब प्राणियों का भला चाहता है । जब व्यक्ति कोई अच्छा काम करने लगता है तो उसे आनन्द, उत्साह, निर्भयता की अनुभूति होती है वह परमात्मा की ओर से होता है और जब वह कोई बुरा काम करने लगता है तब उसे भय, शंका, लज्जा की अनुभूति होती है वह भी परमात्मा की ओर से ही होता है । अतः पहली सीढ़ी है नैतिकता । दूसरी सीढ़ी है धार्मिकता और तीसरी सीढ़ी आध्यात्मिकता है–

**आकर चारि लाख चौरासी जाति जीव जल थल नभ रासी ।**
**सीया राममय सब जग जानी करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।।**

–रामचरितमानस बालकाण्ड

इस संसार में 84 लाख योनियों में चार प्रकार के जीव-स्वेदज, अण्डज, उद्भिज ओर जरायुज समूचे ब्रह्माण्ड में रहते हैं । उन सब से भरे हुए सारे संसार को सीय राममय जानकर के करबद्ध प्रणाम करता हूँ । यही अध्यात्म की प्रकाष्ठा है ।

अतः शत्रु में भी प्रभु को देखना ही अध्यात्म है जैसे भाई घनइया शत्रु की सेना के सिपाहियों को भी पानी पिलाते थे । जब इस बात का श्री गुरु गोबिन्द सिंह को पता चला तो उन्होंने भाई घनइया से पूछा कि ऐसा आप क्यों करते हो तो उन्होंने उत्तर दिया – मैं क्या करूँ मुझे तो उन में भी प्रभु नजर आता है यही अध्यात्म है । तुलसीदास जी लिखते हैं–

**धनहीन कहे धनवान सुखी धनवान कहे सुख राजा को भारी ।**
**राजा कहे चक्रवर्ती सुखी चक्रवर्ती कहे सुख इन्द्र को भारी ।।**
**इन्द्र कहे चतुरानन सुखी चतुरानन कह विष्णु को सुख भारी ।**
**तुलसीदास विचारि कहे, प्रभुभक्ति बिन सब लोक दुःखारी ।।**

संसार में विभिन्न विचारधारा के व्यक्ति हैं । अतः अनेक विचार समस्याएँ पंथ एवं ग्रंथ हैं । प्रत्येक व्यक्ति का पृथक् अस्तित्व, व्यक्तितत्व एवं कृतित्व है । परन्तु सबकी मांग एक ही है–सुख, शांति और आनन्द । सुख मिलता है, भोग से, शांति मिलती है योग से और आनन्द मिलता है निष्काम प्रभु भक्ति से क्योंकि सुख शरीर का, शांति मन का और आनन्द परमात्मा का विषय है अर्थात् परमात्मा आनन्द का पर्यायवाची शब्द है । अतः मुनि श्री तरुणसागर जी फरमाते हैं–

**एक घंटे की खुशी चाहिये तो बेहतर होगा आप एक झपकी ले लें ।**
**एक दिन की खुशी चाहिए तो प्रोग्राम बनाएं और पिकनिक पर**

**निकल जायें। एक महीने की खुशी चाहिऐ तो आज ही शादी कर डालिये। एक साल की खुशी चाहिए तो टाटा, बिड़ला जितनी सम्पत्ति कमा लीजिए और अगर ज़िन्दगी भर की खुशी चाहिए तो हर हाल में मस्त रहने की आदत डाल लीजिए। धर्म और अध्यात्म का दामन थामिए जो हर हाल में मस्त रहता है। वह कभी तनावग्रस्त नहीं रहता।** —कड़वे प्रवचन भाग-2 पृ० 25

हम देखते हैं कि अधिकतर व्यक्ति केवल धनोपार्जन करने के लिये अपना मूल्यवान समय व जीवन व्यतीत करते हैं। यह ठीक है कि धन जीवन में परमावश्यक है। परन्तु धन सब कुछ नहीं है। व्यक्ति अपना भौतिक विकास तो कर रहा है परन्तु आत्मिक विकास नहीं करता है। उसे भौतिक विकास के साथ आत्मिक विकास भी करना चाहिए। इसके विषय में आप को एक शिक्षाप्रद कहानी सुनाना चाहता हूँ कि एक बार 12 यात्री एक नगर से दूसरे नगर की ओर जा रहे थे। आगे बढ़े तो मार्ग में एक नदी आ गई। अब सब व्यक्ति घबराये कि नदी को कैसे पार करें। कोई पुल नहीं कोई नाव नहीं थी। परन्तु नदी को पार करना आवश्यक था। इन यात्रियों में एक विद्वान व्यक्ति था उसने कहा—

देखो, घबराओ नहीं, नदी को अवश्य पार करना है। सब लोग एक दूसरे का हाथ पकड़ लो। हम सब मिलकर पार हो जायेंगे। सबने दृढ़ता से एक दूसरे के हाथों को पकड़ लिया और नदी को पार कर लिया। इसके पश्चात् बुद्धिमान व्यक्ति ने कहा—

अब गिनती कर लो कि कहीं कोई नदी में नहीं डूब गया। दूसरे व्यक्ति ने कहा—सब से बुद्धिमान व्यक्ति आप ही हैं और आप ही गिनो।

उसने गिनना आरम्भ किया और 1 से लेकर 11 तक सबको गिन डाला और स्वयं को गिनना छोड़ दिया। वह चौककर बोला—ये

तो 11 हैं। एक व्यक्ति कहाँ है? दूसरे व्यक्ति ने कहा–ठहरो मैं गिनता हूँ। उसने भी स्वयं को गिनना छोड़ दिया और कहा ये तो 11 हैं।

सब व्यक्तियों ने ऐसा ही किया। सब ने ही स्वयं को गिनना छोड़ दिया। सबने ही 11 गिने ओर वे सब रोने लगे कि हमारा एक साथी नदी में डूब गया। वो रो ही रहे थे कि एक और यात्री आया उसने पूछा–क्या हुआ है भाई! तुम रोते क्यों हो? हम 12 व्यक्ति थे। नदी को पार करते हुए एक व्यक्ति डूब गया। अब 11 शेष रह गये हैं। इसलिये रोते हैं। उस व्यक्ति ने एक दृष्टि में उन्हें देखा कि ये तो 12 हैं तब वह बोला–देखो! यदि मैं आपके 12वें व्यक्ति को खोज दूँ तो तब उन्होंने उत्तर दिया–तब तो हम तुम्हें भगवान् मानेंगे। उसने कहा–''बहुत अच्छा! सब बैठ जाओ। मैं प्रत्येक के मुख पर चपत मारूँगा जिसको पहली चपत लगे वह कहे एक। जिसे दूसरी चपत लगे वह कहे दो। इस प्रकार सब बोलते जायें।''

वे सब बैठ गये। उस यात्री ने पहले व्यक्ति के मुख पर चपत मारकर कहा–एक। पहले व्यक्ति ने कहा–हाँ एक। इसके पश्चात् दूसरे व्यक्ति के मुख पर चपत मार कर कहा –दो। दूसरे व्यक्ति ने कहा–हाँ दो। इसी प्रकार सब ने ही किया। सब प्रसन्न हो गये कि उनका 12वां साथी मिल गया। सब ने चपत मारने वाले यात्री का धन्यवाद करते हुये कहा–

आप तो हमारे भगवान् हैं।

आपको इन यात्रियों की मूर्खता पर हँसी आती है। परन्तु सोचकर देखो कि हम स्वयं क्या कर रहे हैं? हम जीवन यात्रा पर 12 यात्री चले थे। 5 कर्मेन्द्रियां–हाथ, पैर, वाणी, मल और मूत्र द्वार। 5 ज्ञानेन्द्रियां–आँख, नाक, कान, रसना और त्वचा। 11 वां मन और 12वां आत्मा। हमने आत्मा को भुला दिया है। 11 ही दिखाई देते

हैं । 12वां दिखाई ही नहीं देता है । इन 11 के लिए मुख्यतः हम सब कुछ करते हैं । सारा दिन धन कमाने के लिये या कामवासना की पूर्ति के लिये ही लगे रहते हैं । 12वें साथी आत्मा के लिये कुछ भी नहीं करते । इन शेष 11 को हम प्रत्येक प्रकार का भोजन देते हैं । अतः आत्मा को भुला बैठा रखा है । मुनि श्री तरुण सागर लिखते हैं–

**संसार और अध्यात्म में इतना ही फर्क है कि संसार कहता है कि जो आज दोस्त है वह कल दुश्मन हो सकता है । इसलिये अविश्वास बनाए रखो और अध्यात्म कहता है कि जो आज दुश्मन है वह कल मित्र हो सकता है इसलिए विश्वास के द्वार खुले रखो । भरोसा सिर्फ परमात्मा पर नहीं बल्कि इस बात पर ही होना चाहिए कि आदमी के मन को बदलने में वक्त नहीं लगता ।**

–कड़े प्रवचन भाग 6 पृ० 29

**अध्यात्म कोई मंजिल नहीं अपितु यात्रा है–**

अध्यात्म बड़ा सरल है । फिर भी लोग मन में कई भ्राँतियां पाल लेते हैं कि कहीं आध्यात्मिक होने पर घर छोड़कर संन्यास लेना न पड़ जाये । कहीं वैरागी न हो जाऊँ, कहीं गृहस्थ धर्म न छोड़ दूं । अध्यात्म तो हमें जीवन जीना सिखाता है । जैसे कोई भी मशीन खरीदने पर उसके साथ एक मैन्युअल बुक आती है, ऐसे ही तन, मन को चलाने के लिए मैन्युअल बुक वेद, वेदांग, उपनिषद्, रामायण, गीता आदि आध्यात्मिक शास्त्र और गुरु होते हैं जो हमें मन, बुद्धि और इंद्रियों, अहंकार का प्रयोग करना सिखाते हैं । समाज के आदर्श के रूप में रहना सिखाते हैं, मन को सुलझाना सिखाते हैं । अतः धर्म कोई भी हो, लेकिन सभी को आध्यात्मिक अवश्य होना चाहिये ।

अब प्रश्न उठता है कि अध्यात्म का लक्ष्य क्या है ? यह समझो जैसे आप कभी पहाड़ियों पर घूमने जाते हैं । पहाड़ियों पर मंजिल भी वैसी ही होती है, जैसा रास्ता । फिर आप रास्ते के साइड सीन का

आनंद लेते हैं, हर सीन को देखकर प्रसन्न होते हैं । उसका मजा लेते हैं । फिर अंत में जहाँ पहुँचते हैं, वहाँ भी वही दृश्य पाते हैं । अतः रास्ते का ही मजा है । लॉन्ग ड्राइव में आप रास्ते का ही आनंद लेते हैं । अध्यात्म की यात्रा भी ऐसी ही होती है जिसमें रास्ते का ही मजा है ।

अध्यात्म कहता है कि बीतते हुए हर पल का आनंद लो, उस पल में रहो, हर पल को खुशी के साथ जियो । हर परिस्थिति, सुख-दुःख, मान-सम्मान, लाभ-हानि से गुजरते हुए अपने में मस्त रहो । द्वन्द्वों में सम्भाव में रहो क्योंकि मुक्ति मरने के बाद नहीं, जीते जी की अवस्था है । जब हम अपने स्वरूप के साथ जुड़कर हर पल को जीते हैं, तब वह जीते जी मुक्त भाव में ही बना रहता है । अध्यात्म कोई मंजिल नहीं, बल्कि यात्रा है । इसमें जीवन भर चलते रहना है । यह यात्रा हमें वर्तमान में रहना और अभी में आनंद लेना सिखाती है ।

यदि 'अभी में' रहकर उस आनन्द भाव में नहीं आए तो कभी हम आनन्द में नहीं आ पाएंगे और जब भी आएंगे, उस समय भी अभी ही होगा । वैसे हम पूरा जीवन अभी-अभी की शृंखला में जीते हैं । जन्म से लेकर मृत्यु तक अभी-अभी में ही जीते हैं । फिर भी मन भूतकाल या भविष्य में ही बना रहता है और भूतकाल का दुःख या भविष्य का डर या लालच में ही मन घूमता रहता है लेकिन जब हम अभी में आते हैं, उसी समय से हमारे जीवन में अध्यात्म का प्रारम्भ होता है और फिर हम इस अभी-अभी की कड़ी को पकड़ कर रखते हैं । इसलिये मुक्ति अभी में है, भविष्य में नहीं । अतः यदि हम जीवन भर अभी को पकड़ कर रखें फिर हम जहाँ हैं जैसे हैं, वहीं आध्यात्मिक हो सकते हैं ।

ऐसा माना जाता है कि विज्ञान और अध्यात्म एक-दूसरे के

प्रतिद्वंद्वी और विरोधाभासी हैं । अक्सर यह आम धारणा लोगों के दिमाग़ में घर कर जाती है और वे इससे अलग सोचना नहीं चाहते लेकिन यही सोच दरअसल वैचारिक विकास के रुकने का भी संकेत है । जब हम अध्यात्म को संकीर्णताओं के घेरे में कैद कर देते हैं तब भी और जब हम विज्ञान का उपयोग विध्वंस के लिए करने लगते हैं तब भी दोनों ही तरीकों से हम विनाश की ओर कदम बढ़ाते हैं तथा विकास से कोसों दूर चले जाते हैं । अध्यात्म तथा विज्ञान दोनों की उत्पत्ति सृजन के मूलमंत्र के साथ हुई है । सृष्टि ने ये विषय बाहरी जगत् तथा अंतरात्मा को जोड़ने के उद्देश्य से उपहार स्वरूप मनुष्य को दिए हैं । विज्ञान और अध्यात्म परस्पर शत्रु नहीं मित्र हैं, एक-दूजे के पूरक हैं ।

विज्ञान हमें अध्यात्म से जोड़ता है और अध्यात्म हमें वैज्ञानिक तरीके से सोचने का सामर्थ्य देता है । विज्ञान का आधार है तर्क तथा नई खोज और किसी धर्मग्रंथ में भी इन्हीं बातों को कहा गया है इसलिए अध्यात्म एवं विज्ञान में एक जैसी समानताएं और एक जैसी विरोधाभास हैं । यदि विज्ञान बाहरी सच की खोज है तो अध्यात्म अंतरात्मा के सच को जानने का जरिया है । दोनों ही माध्यमों द्वारा हम इस सच को जानने के लिए ज्ञान के मार्ग पर बढ़ते हैं और उद्देश्य उक्त सच को जानकर, उस पर मनन कर प्राणी मात्र की भलाई में उसका उपयोग करना होता है । दोनों ही जगह ज्ञान का क्षेत्र अनंत है । विज्ञान के जरिए आप प्रकृति से प्रेम करना सीखते हैं । तकनीक या विज्ञान कभी भी प्राणियों को जाति या धर्म के नाम पर बाँटता नहीं और यही अध्यात्म का असल अर्थ भी है । जब इन दोनों को मिलाकर समाज के उत्थान हेतु उपयोग में लाया जाए तभी इनकी असल परिभाषा सार्थक होती है । जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए वैज्ञानिक उपायों तथा खोजों की आवश्यकता होती है

ठीक उसी प्रकार मन को स्वस्थ बनाए रखने के लिए अध्यात्म रूपी मनन जरूरी होता है। इन मित्रों की मैत्री को अटूट बनाकर सारे समाज में शांति और स्नेह का वातावरण निर्मित किया जा सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि हम अपना आत्मसुधार कैसे करें? इसके लिए आवश्यक है आत्म निरीक्षण, प्रायश्चित, स्वाध्याय, सत्संग, संतोष, संयम, आत्मसाक्षात्कार के लिये आवश्यक है–प्रभु मिलन की इच्छा, विनम्रता, व्याकुलता, विश्वास, निष्ठा, त्याग और समर्पण आदि को अपने जीवन में अपनाना। वस्तुतः आत्म साक्षात्कार के लिये प्रभु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण का होना परमावश्यक है। व्यक्ति जो भी काम करे उसके फल को प्रभु पर ही छोड़ दे। जैसे मीरा का समर्पण देखिये–

**जहाँ बैठाएँ, तित बैठूँ मैं, जो बेचे बिक जाऊँ।**

**तेरी मेरी प्रीत पुरानी तुझ बिन पल न रह पाऊँ।**

**मैं तो गिरिधर के घर जाऊँ।**

अंततः उपरोक्त विवेचन एवं विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे जीवन में अध्यात्म का अत्यधिक महत्व है। परन्तु कोरे अध्यात्मवाद से ही जीवन नहीं चल सकता। अतः हमें जीवन में सफल होने के लिये अध्यात्मवाद व भौतिकवाद दोनों के सुन्दर समन्वय की आवश्यकता है तभी हम अपने जीवन को सुखमय, शांतिमय एवं आनंदमय बना सकते हैं।

# 5. भारतीय संस्कृति

प्रसन्नता की बात है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की सुरक्षा और उसके प्रचार की बात बड़े जोर-शोर से चल पड़ी है। वास्तव में किसी देश का प्राण उसकी संस्कृति ही है।

**विदेशी संस्कृति है, खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, रहो होटल में, मरो अस्पताल में और भारतीय संस्कृति है जीओ और जीने दो।**

—मुनि श्री तरुण सागर जी

**संस्कृति की परिभाषा** – आजकल अंग्रेज़ी शब्द कल्चर (culture) के लिए 'संस्कृति' शब्द व्यवहार में आने लगा है, परन्तु संस्कृति का अर्थ बहुत व्यापक हैं संस्कृति हमारे आन्तरिक गुणों का समूह है – वह एक प्रेरक शक्ति है। वह हमारे सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है, हमारे साहित्य और उसकी भाषा को बनाती है तथा हमारी संस्थाओं को जन्म देती है। संस्कृति हमें यह बताती है कि हम अपनी सूक्ष्म चित्तवृत्तियों का कितना विकास कर पाये हैं। संस्कृति का आधार धर्म है और धर्म की नींव सदाचार है। जैसे हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं–

**मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है।**

—अशोक के फूल (भारतीय संस्कृति)

मुनि श्री तरुणसागर जी कहते हैं–

**भूख लगे तो खाना प्रकृति है। भूख न लगे तब खाना विकृति है और स्वयं भूखे रहकर किसी भूखे को खिला देना संस्कृति है। भोजन यह सोचकर मत करो कि मैं खा रहा हूँ। बल्कि यह सोचकर करो कि मेरे भीतर जो प्रभु विराजमान है, उसे मैं अर्घ्य चढ़ा रहा हूँ। तुम जब यह सोचकर भोजन करोगे तो फिर मांस मदिरा और जर्दा आदि नहीं खा सकोगे। क्या तुम कभी परमात्मा को इनका भोग लगाते हो? नही**

**न। तो फिर इन्हें अपने पेट में डालकर अपने भीतर बैठे प्रभु को अपमानित क्यों करते हो?**

—कड़वे प्रवचन भाग 1 पृ० 122

**सभ्यता का अर्थ** – संस्कृति के सम्बन्ध में विचार करते समय एक शब्द और हमारे समक्ष आ जाता है और वह है 'सभ्यता'। यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या सभ्यता और संस्कृति दोनों एक ही वस्तु है? यदि नहीं, तो इनमें क्या अन्तर है? वास्तव में सभ्यता और संस्कृति में अंतर करना सरल काम नहीं है। एक ओर यदि कई विद्वानों ने भ्रमवश दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है, तो दूसरी ओर ऐसे भी विद्वान् हैं, जिन्होंने इनमें आकाश-पाताल का अन्तर बताया है। मतों की इस विपरीतता में सत्य का पता लगाने के लिए हमें 'सभ्यता' के शब्दिक अर्थ को भी समझना होगा।

'सभ्यता' शब्द 'सभ्य' से बना है। सभ्य का अर्थ सदस्य या सभासद् है। सदस्यता किसी सभा-समाज की होती है। अतः सभ्यता एक सामाजिक गुण हुआ, जिसका अनुमान हम किसी व्यक्ति विशेष की वेशभूषा, बोलचाल और आचार-व्यवहार से लगाते हैं। इसमें हम उसकी बाहरी शारीरिक बातों पर भी ध्यान देते हैं, आन्तरिक गुणों पर नहीं।

सभ्यता भौतिक एवं संस्कृति आध्यात्मिक है। इन दोनों में आधारभूत भेद हैं। सभ्यता शरीर है और संस्कृति आत्मा है, सभ्यता बाहर की चीज है, संस्कृति भीतर की चीज है। सभ्यता भौतिक विकास का नाम है, संस्कृति आध्यात्मिक विकास का नाम है। फोन, मोबाइल, रेल, मोटरकार, हवाई जहाज आदि ये सब सभ्यता के विकास के निदर्शक हैं, सत्य-झूठ, ईमानदारी-बेईमानी, संतोष-असंतोष, संयम-असंयम ये सब संस्कृति के ऊँचे या नीचे विकास के निदर्शक हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति तो त्याग और भोग, निवृत्ति, प्रवृत्ति की ओर और प्रेयमार्ग से श्रेयमार्ग की ओर बढ़ना है।

अंग्रेज़ी भाषा में 'सभ्यता' के लिए 'Civilization' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि हमें सभ्यता एवं संस्कृति का विश्लेषण अंग्रेजी भाषा में करना पड़े तो इस प्रकार किया जायेगा—

**'Civilization is an expression of flesh, while culture is the manifestation of soul.'**

**'सभ्यता शरीर के मनोविकारों की द्योतक है, जबकि संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है ।'**

आज सभ्यता की विशेषताएं मुख्यतः मानववादी भावना, जीवन के प्रति भौतिक एवं धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण, वैज्ञानिक स्वभाव और परम्परागत रीति-रिवाज को आमूल नष्ट करने की प्रवृत्ति आदि है । सभ्यता, आवश्यकताओं, आवेगों और महत्वाकांक्षाओं का ऐसा पूंजीभूत रूप है जिस पर आत्मा का कोई नियंत्रण न हो । संस्कृति मूलतः अध्यात्म प्रधान है । हमारा जीवन-लक्ष्य भी आध्यात्मिक उत्कर्ष है । तू शरीर नहीं आत्मा है—इस उक्ति की चरितार्थता तभी सम्भव है जब मानव में सात्विक गुणों का विकास हो ।

**भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएँ—**

**1. सर्वकल्याणकारिणी संस्कृति** :—भारतीय संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है । इसके द्वारा न केवल अपने अनुयायियों के लिए वरन् समस्त विश्व के लिए मंगलकारी प्रभाव उत्पन्न होता है । हमारी दैनिक प्रार्थना भी यही कहती है—

**(1) सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत ।।**

हे प्रभु ! सब सुखी हों, सब स्वस्थ और निरोग हो, सब का कल्याण हो और कोई भी प्राणी दुःखी न हो ।

**(2) अयं बंधुस्यं नेति कल्पना लघुचेतसाम् ।**
**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।**

—महोपनिषद् 6.71

यह मेरा बंधु है, यह नहीं है ऐसा विचार अल्प बुद्धि वाले करते हैं । परन्तु उदारवादियों के लिए सारा संसार ही परिवार है ।

**(3) सर्वभूतहिते रताः ।** —गीता 12/4

सब प्राणियों के हित में लगे रहो ।

**(4) मातृवत् परदारांशुच परद्रव्याणि लोष्ठवत् ।**
**आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।।**

—चाणक्य नीति

माता के सामन पर स्त्री को, मिट्टी के ढेले के समान दूसरे के धन को और अपने समान सभी प्राणियों को जो देखता, वही वास्तव में देखता है ।

अतः भारतीय संस्कृति अर्पण, तर्पण और समर्पण की संस्कृति है ।

**2. जीवन क्षमता :** —हमारी संस्कृति विविधरूपिणी एवं बहुमुखी रही है। युद्ध एवं शान्ति की प्रत्येक कला, राजनीति एवं शासन-व्यवस्था, संगीत तथा साहित्य, स्थापत्य अथवा प्रतिमा-निर्माण कौशल, नृत्य एवं चित्रकला हमारी इस भव्य संस्कृति के विकास का परिचय देती है। समस्त विश्व भारतीय संस्कृति का प्रशंसक है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप हमारे देश में अनेक संस्कृतियों ने अपना प्रभाव छोड़ना चाहा, परन्तु भारतीय संस्कृति ने अन्य संस्कृतियों को समेट कर आत्मसात् कर लिया। यह इसके प्राणवान् होने का चिह्न है। आर्यकाल से चली आती भारतीय संस्कृति को आज इस बात पर गौरव है कि हज़ारों वर्षों से उसका जीवन प्रवाह निरन्तर एवं अविच्छिन्न है जबकि मिस्र, बेवीलोन, यूनान तथा रोम की संस्कृतियों का कोई अवशिष्ट चिह्न नहीं दिखाई देता ।

**3. समस्त प्राणियों से एकात्मता और प्रेम का भाव :**— सब प्राणियों को अपने समान समझना तथा उनके प्रति न केवल प्रेम भाव रखना अपितु तदनुसार आचरण करना, निम्न से निम्न प्राणी को भी अपने स्नेह और करुणा का अवलंबन देना, यह पूर्ण और सच्चे रूप में भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जाता। यह भारतीय संस्कृति का प्राण हैं यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इस विशेषता में भारतीय संस्कृति की अन्य सब विशेषताएं गर्भित हैं ।

**4. पुनर्जन्म तथा आशावाद :**— जो हम आज हैं, वह पिछले कर्मों का परिणाम है । अतः फल भोगने में तो हम परतंत्र हैं, परन्तु कर्म

करने में स्वतंत्र होने से अपने भविष्य के निर्माता हम स्वयं हैं। इस उद्देश्य से कि अमर आत्मा अगले जन्म में सुन्दर चोला धारण कर सकें, हमें अब वर्तमान का पूर्णतया लाभ उठाते हुए इहलोक तथा परलोक दोनों को ध्यान में रखकर ही कार्य करना चाहिये। इन सब बातों से प्राणीमात्र के प्रति एकात्मता और प्रेमभाव दृढ़ होता है तथा पुरुषार्थ, सत्यप्रयत्न और आशा की प्रेरणा मिलती रहती है।

**5. संयुक्त पारिवारिक जीवन :–**अंग्रेज़ी कहावत Charity begins at home अर्थात् उदारता का प्रथम पाठ हमें अपने घर से ही मिलता है – के अनुसार हम कुटुम्ब के सुख-चैन के लिए स्वार्थ का त्याग करना सीखते हैं। इसका भी उद्देश्य कुटुम्ब के सभी सदस्यों को उनके धर्म, अर्थ, काम के साधन, समुचित व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अवसर देना और पारस्परिक सहयोग देना है। जहाँ पुत्र वेद की मातृदेवो भव, पितृदेवो भव जैसी आशाओं का पालन करता है, वहाँ माता-पिता भी प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवत् आचरेत्–को नहीं भूलते। इसी प्रकार पति-पत्नी, भाई-बहन तथा अन्य सगे-संबंधियों के प्रति व्यवहार किया जाता है।

**6. सादगी और शान्ति :** –यह इस संस्कृति की महान् विशेषताएं हैं। सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श सदा सामने रहता है। जीवन स्तर को उन्नत करने का अर्थ यह नहीं है कि अनावश्यक सांसारिक पदार्थों का संग्रह किया जाये वरन् अपने नैतिक स्तर को ऊँचा करना है और अपने सुख-शान्ति को सांसारिक पदार्थों के अप्रभावित रखना है।

**7. अखण्डता :** – संस्कृति शब्द समग्र देश की एक ऐसी जीवन पद्धति का बोध देता है जिसमें उस भूभाग का प्राकृतिक परिवेश मनुष्य के बाह्य और अन्तर के संस्कारों को प्रभावित करता है। भारत के प्राकृतिक परिवेश में मानव-जीवन की एक विशेष संस्कार पद्धति रही है। इस संस्कार-क्रम में जो अन्यतम उपलब्धियां हुई हैं, उन्हें धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, आचारनीति आदि विभागों में बाँट सकते हैं। परन्तु ये भिन्न प्रतीत होने वाली उपलब्धियां एक ही संस्कृति

शरीर के भिन्न अवयव होने से मूलतः एक ही कही जायेंगी ।

जिस प्रकार इस महादेश का निवासी मानसरोवर और कैलाश को देश का भाग ही मानता रहा और उसके स्मरण से अथवा दर्शन से अपने को पवित्र बनाता रहा उसी प्रकार यहाँ तीर्थस्थल जैसे हरिद्वार, प्रयाग, रामेश्वर, पुरी, द्वारिका धाम आदि को भारत के प्रत्येक कोने से श्रद्धासुमन अर्पित होते रहे हैं । हमारे देवी-देवता सरिता, सागर सभी के प्रति जनता का पूज्य भाव विद्यमान है ।

**8. व्यापकता** :—मनुष्य प्रकृति से सर्वथा एक ही रूप में प्रभावित नहीं होता । भारतीय प्रदेश की यह विशेषता है कि इसने प्रकृति एवं मानव की प्रगति को अनुभूत करने का सबसे अधिक सौभाग्य प्राप्त किया है । यहाँ के निवासियों में मानव-समाज के विभिन्न युगों में होने वाले प्रायः समस्त धार्मिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों की प्रवृत्तियों का कोई पार नहीं दिखाई देता । इस अकल्पनीय अतीत का यहाँ वैचित्र्य है । इसने हाल में घटने वाली पुनरावृत्तियों को एक बार नहीं कई बार देखा है । इसकी तपश्चर्या और नवनिर्माण-साधना का कोई मापदण्ड नहीं । इसके जीवन संबंधी ज्ञान-विज्ञान को किसी काल की मर्यादा में मर्यादित नहीं किया जा सकता । भारतीय संस्कृति इस अपरिमित ज्ञान-विज्ञान की देन है । अब तक इसमें पद-पद पर त्रिकालव्यापी शाश्वत सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं ।

**9. निष्काम कर्म की भावना** :—कर्म करते हुए उसके फल की आशा न करना कहने में सरल परन्तु करने में कठिन है । प्रत्येक व्यक्ति फल की आशा से काम करता है । क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे हम अपने भीतर फल की आशा न करके करने की भावना को, अनासक्ति को जन्म दे सकें? इसका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा कि जो लोग जीवन को यज्ञमय बना लेते हैं वे स्वयं निष्काम कर्म करने लगते हैं । यज्ञमय निःस्वार्थ जीवन बिताने वालों को गीता में आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मतुष्ट कहा गया है—वह स्वयं में रमा हुआ है, आत्म में भरा हुआ है । अपने आत्म में संतुष्ट है । इसके विपरीत

स्वार्थमय जीवन बिताने वाले को इंद्रियाराम कहा गया है। क्योंकि वह इंद्रियों के साथ खेलता है और आत्मा से दूर भागता है। अतः गीता के पन्ने-पन्ने से गूंजने वाला भारतीय संस्कृति का संदेश जब तक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तब तक अमर रहेगा। वस्तुतः यह संदेश भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताओं में सबसे महान् विशेषता है।

**10. कर्मसिद्धान्त** :–भारतीय संस्कृति कर्म सिद्धान्त में अटल विश्वास रखती है। अतः जैसा व्यक्ति कर्म करता है उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है क्योंकि कर्मफल से बचने का कोई भी उपाय नहीं है। जैसे महाभारत व ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है–

**नाभुक्तं क्षीयते कर्म कव्य कोटिशतैपि।**
**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं।।**

बिना भोगे हुए कर्मों का नाश करोड़ों कल्प तक भी नहीं होता है। अतः शुभ-अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।

**11. जीवन यात्रा के चार पड़ाव** : – भारतीय संस्कृति के चार पड़ाव माने जाते हैं–ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम हैं और चार वर्ण –ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं। इन आश्रमों और वर्णों के विभिन्न कर्तव्य निर्धारित किये गये ताकि समाज का कार्य सुचारू रूप से चल सके। इस प्रकार भारतीय संस्कृति भोग व त्याग की संस्कृति है।

**12. संस्कारों द्वारा मानव निर्माण** :–महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि में 16 संस्कारों का विधान किया है जैसे गर्भाधान संस्कार, नामकरण संस्कार, विवाह संस्कार, अंत्येष्टि संस्कार आदि। इन संस्कारों के द्वारा ही मानवनिर्माण होता। परन्तु आजकल अधिकतर माता-पिता अपने बच्चों को न तो संस्कार देते हैं और न समय देते हैं। इसी कारण आज अधिकतर परिवारों में अनुशासनहीनता है।

अंततः इतना ही कहना काफी होगा कि आज हमारे हृदय में भारतीय संस्कृति नहीं है, हमारे भीतर पाश्चात्य-संस्कृति भरी पड़ी है। जो लोग खुल्लम-खुल्ला पाश्चात्य संस्कृति के पोषक हैं वे भारतीय संस्कृति को इतनी हानि नहीं पहुँचा रहे जितनी हानि वे लोग पहुँचा रहे हैं जो लेवल तो भारतीय संस्कृति का लगाये फिरते हैं परन्तु

उनके भीतर पाश्चात्य संस्कृति आसन जमाये बैठी है ।

**भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता** :– दुनियाँ में अकेले या एकाकी सज्जन बनने में काम नहीं चलता । अपने आस-पास भी सज्जन समाज बनाना और बढ़ाना होता है । ऐसी विशेषता भारतीय संस्कृति में सदैव रही है । उसने स्वार्थसिद्धि की अपेक्षा परसेवा, समाज-सेवा और परमार्थ पर अधिक जोर दिया है । उसने व्यक्ति को समाज में, समष्टि में, परमात्मा में लीन होने का उपदेश दिया है । भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का सार निम्नलिखित शब्दों में वर्णित किया जा सकता है–

(1) व्यक्ति को आत्मसंयम तथा आवश्यकताओं को कम करने का पाठ पढ़ाया ।

(2) व्यक्ति का अंतिम ध्येय ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति बतलाया ।

(3) भारतीय संस्कृति का मुख्य तत्व परमार्थ भाव है । इसने हमें परोपकार, दान देना एवं अतिथि-सत्कार सिखाया ।

(4) निष्काम भाव से शुभ कर्म करते रहने पर बल दिया ।

(5) सत्य अहिंसा, अस्तेय, तप आदि नैतिक गुणों की शक्तियों में विश्वास जगाया ।

तभी तो संसार के इतिहास में 1100 वर्षों तक अराजकता में रह कर अरक्षित जीकर, इतने आक्रमण और लूटमार सहकर तथा 955 वर्ष विदेशी धर्म एवं संस्कृति से मुस्लिम एवं अंग्रेज शासकों के शासन में रहकर भी इसने अपने जीवन, जाति एवं सभ्यता को अक्षुण्ण बनाये रखने में अमरता एवं मृत्युंजयता का ठोस प्रमाण दिया । भारतीय संस्कृति ऐसे भयंकर प्रहारों को सहकर भी अपनी अमर संस्कृति की आधार-शिला पर स्थित है । इसकी अजेयता ने विश्व भर में इतिहासज्ञों को भी चकित कर दिया है, चूंकि उनको ऐसा दूसरा उदाहरण ही नहीं मिलता ।

**भारतीय संस्कृति विदेशियों की दृष्टि में :–** भारतीय संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में सब देशों की संस्कृति की जननी है। कई लोग ऐसा मानते हैं कि विश्व-मानव की आदि जन्मभूमि और आदि संस्कृति एक हैं वह पुण्यभूमि भारत ही है, जहाँ से मनुष्य पश्चिम में फैल गया और अपने साथ यहाँ के संस्कारों को भी ले गया। काल एवं परिस्थितियों के प्रभाव से बड़ी संस्कार उनकी संस्कृतियों में व्यक्त हुए। जर्मनी देश के प्रकाण्ड विद्वान् मैक्समूलर ने इसकी मुक्त कंठ से सराहना करते हुए महारानी विक्टोरिया को 1858 ई० में लिखा था–

1. **यदि मुझसे पूछा जाये कि किस देश में मानव मस्तिष्क ने अपनी मुख्यतम शक्तियों को विकसित किया है, जीवन के बड़े से बड़े प्रश्नों पर विचार किया और ऐसे समाधान ढूंढ निकाले जिनकी ओर प्लेटो और काण्ट के दर्शन का अध्ययन करने वालों का ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिये तो मैं भारतवर्ष की ओर संकेत करूँगा।**

   **यदि मैं अपने-आप से पूछूं कि किस साहित्य का आश्रय लेकर सेमैटिक, यूनानी और केवल रोमन विचारधारा में बहते हुए योरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवन को अधिकाधिक विकसित, अत्यंत उच्चतम मानवीय बन सकेंगे, जो जीवन इहलोक से ही सम्बद्ध न हो अपितु शाश्वत एवं दिव्य हो, तो मैं फिर भारतवर्ष की ही ओर संकेत करूँगा।**

2. अन्य उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं–

   **पेरिस विश्वविद्यालय के प्रो० लुई टिनाऊ लिखते हैं कि संसार के देशों में भारतवर्ष के प्रति लोगों का प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति के कारण है। हिन्दू लोग धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, सत्यभक्त, कृतज्ञ और प्रभु की भक्ति से युक्त होते हैं।** –सैमुअल जानसन

3. **ध्यान की प्रणाली को भारतीयों ने जन्म दिया है। उनमें स्वच्छता तथा शुचिता के गुण वर्तमान हैं। उन लोगों में विवेक है तथा वे वीर**

**हैं । ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद एवं अन्य विद्याओं में भारतीय लोग बढ़े हुए हैं । प्रतिमा-निर्माण, चित्र-लेखन, वास्तुकला में वे पूर्णता तक पहुँच चुके हैं । उनके पास काव्य, दर्शन, साहित्य तथा नैतिक शास्त्रों का संग्रह है ।** —अलहजीज

4. **समस्त भारतीय, चाहे वे प्रासादों में रहने वाले राजकुमार हों या झोंपड़े में रहने वाले प्रजाजन—संसार के सर्वोत्तम शील सम्पन्न लोग हैं । मानो यह उनका जातिगत धर्म है । उचित और आदरपूर्वक व्यवहार का प्रत्युत्तर वे अवश्य देते हैं तथा दयालुता एवं सहानुभूति के किसी कर्म को भूलते नहीं ।** —लार्ड विलियम

5. **मैंने यूरोप और एशिया के सभी धर्मों का अध्ययन किया, परन्तु मुझे उन सबमें हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखाई देता है । मेरा विश्वास है कि इसके सामने एक दिन समस्त जगत् को सिर झुकाना पड़ेगा ।**

—रोम्या रोला

6. स्वामी विवेकानंद ने भविष्यवाणी की थी—

**भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता, अमर है वह और उस वक्त तक अमर रहेगा तब तक कि यह विचारधारा पृष्ठभूमि के रूप में रहेगी, जब तक कि उसके लोग आध्यात्मिकता को नहीं छोड़ेंगे और आध्यात्मिकता कहते हैं धर्म और ईश्वर की श्रद्धामय और निष्ठायुक्त भावना को । वही प्रत्येक भारतीय का जीवन है, वही भारतीय संस्कृति की आधारशिला है । उससे सब कुछ है, उसके बिना कुछ नहीं ।**

यह आदि-संस्कृति ईश्वरोदित है, सर्वांग, सम्पूर्ण, सनातन और चिरंजीवी है । इतिहास इसकी सर्वोत्तमता का साक्षी है । इसे भारतीय संस्कृति कहना भी इसके महान् स्वरूप को लघु करना है । वस्तुतः इसे आदि मानव संस्कृति ही कहना चाहिए ।

देश के हित और उन्नति का वास्तविक उपाय तो यह है कि इस संस्कृति के विशुद्ध भारतीय रूप में सबकी श्रद्धा जाग्रत की

जाये। यद्यपि इस धर्म-मूलक संस्कृति के नियम बहुत विस्तृत और सूक्ष्म हैं, तथापि इसके प्रधान सिद्धान्त प्रेरणा तत्व निश्चित करके उन्हीं के आधार पर इसे अखिल मानव-जाति की संस्कृति का पद प्रदान करने का प्रयत्न किया जा सकता है। यह प्रयत्न जितने ही अंशों में सफल होगा उतने ही अंशों में वह ससांर को सुख, शांति और समृद्धि प्राप्त कराने में तथा परम कल्याण की सिद्धि में सहायक होगा। भारतवर्ष से अखिल जगत् की मानव-जाति जो भारत की नयी पीढ़ी से आशा रखती आई है वह उस प्रकार आदि मानव संस्कृति के पुनर्रुत्थान से ही पूर्ण होगी।

**भारतीय संस्कृति की विश्व को देन** :—सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया ने भारत से ही अपनी संस्कृति ली। ईसा से 5वीं शताब्दी पूर्व में भारत के व्यापारी लंका में जाकर बस गये। अशोक के समय में तो बौद्धमत इस द्वीप पर पूर्णतया छा गया था, तब तक कई भारतीय व्यापारी मलाया, सुमात्रा और पास के अन्य द्वीपों में बस गये थे और वहाँ के निवासियों से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया। चौथी शताब्दी पूर्व में तो संस्कृत उन द्वीपों की राजभाषा बन गई थी और उन राज्यों की सामूहिक शक्ति के प्रमाण जावा में बोरोबदूर के स्तूप और कम्बोडिया के शैव मन्दिर देते हैं। चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत की संस्कृतियों पर भारत की छाप तो अमिट है।

संसार भर को भारत ने न केवल चावल, कपास, गन्ना, नील और मसाले दिये, वरन् शतरंज का खेल भी भारत की ही देन है।

मुख्य देन संसार को जो भारत ने दी है वह है शून्य (0) का अंक तथा शतोत्तर गणना-संस्थाओं के लिखने की आधुनिक प्रणाली। इससे पहले अंकों को भिन्न-भिन्न चिन्हों द्वारा प्रदर्शित करने की रीति से बड़ी संख्याओं के लिखने में बड़ी कठिनाई आती थी। उदाहरणार्थ फिनीश्यन रीति में 9 को ।।। ।।। ।।। नौ लम्बी लकीरों से लिखते थे। हमारे यहाँ यजुर्वेद अध्याय 19 मंत्र 2 में 10,00,00,00,00,00,00,00,000 (एक पर 18 शून्य) दस पदम्

तक की संख्या का उल्लेख है। जबकि यूनान की बड़ी से बड़ी संख्या का नाम 'मिरियड' था, जो 10000 थी और रोम की सबसे बड़ी संख्या का नाम मिल्ली था जो केवल 1000 थी। मोहनजोदड़ों में मिले सिक्कों के लेखों से भी यह निश्चित् हो गया है कि मिस्र, यूनान आदि देशों से पूर्व भारतवासी संख्या को अंकों द्वारा लिखते थे। आर्यभट्ट का वर्गमूल, बीजगणित, वर्ग, समीकरण एवं घनमूल की देन भी भारत की है।

स्वयं अरबी लोग तो अंकों को हिंदसा कहते थे, क्योंकि उन्होंने हिन्दुस्तान से लिये और इनसे सीखने वाले पाश्चात्य लोग अंकों को 'अरेजिक नोटेसन' कहते थे। भारतीय अंक प्रणाली का प्रचार यूरोप में 15वीं शताब्दी में हुआ और 17वीं शताब्दी तक समस्त यूरोप ने इसे अपना लिया था।

पाई का मान 3 = 3.1428 भारतीय आर्यभट्ट ने ही निकाला था। मोहम्मद बिन मूसा ने 925 ई० में पाई का मान देते हुए यह लिखा है कि यह मान हिन्दू ज्योतिषियों का दिया हुआ है। पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर घूमने का रहस्योद्घाटन का श्रेय भी भारत को ही है। सूर्य तथा चन्द्रग्रहण के समय को बिल्कुल ठीक आंकने का श्रेय भी भारतवासियों को ही है।

भारत का अत्यधिक प्रभाव पश्चिम पर पड़ा। भारत से कई विद्वान् मिस्र के बन्दरगाह सिकन्दरिया में व्यापारियों के साथ जा पहुँचते थे, तभी तो पाइथागोरस आदि विचारकों पर उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का प्रभाव पड़ सका। पिछले 150 वर्षों में तो यूरोप और अमेरिका के विचारकों ने मुक्तकण्ठ से भारतीय दर्शन की सराहना की। गेटे ने सर विलियम जोन्स कृत शकुन्तला नाटक के अनुवाद से अपने ड्रामा फोस्ट की भूमिका के लिए आधार प्राप्त किया। फिकटे और हैगल भारत के एकवाद के आधार पर एकेश्वरवाद पर रचनाएं प्रस्तुत कर सके। अमेरिका में भारतीय दर्शन के प्रभाव का थोरो और एमरसन ने बहुत ही प्रचार किया।

अब तो जबकि सारी दुनियाँ छोटी हो गई है, इसके किसी भी कोने में केवल चन्द घण्टों में व्यक्ति पहुँच रहा है, सबकी आँख भारत पर जमी है । अपनी आध्यात्मिक पिपासा की तृप्ति के लिए ए०एल० बाशम के शब्दों में, जो भारत की विश्व को देन की सराहना करते हुए थकते नहीं । वह दिन दूर नहीं, जब संसार भर की एक संस्कृति होगी और वह होगी भारत की संस्कृति पर आधारित । आज के भारत के युवक-युवतियों को अपने गौरवपूर्ण भाग्य की सराहना करनी चाहिए जो प्रभु कृपा से ऐसी उज्ज्वल संस्कृति की पुण्य निधि पूर्वजों से प्राप्त हुई है जिसे बनाये रखने का उत्तरदायित्व उन पर आता है ।

इसलिए मुनिवर तरुणसागर जी लिखते हैं—

**जीतना और लौटा देना हमारी संस्कृति हैं भगवान् बाहुबलि ने भरत का राज्य जीता और उन्हें लौटा दिया । राम ने लंका का राज्य जीता और विभीषण को लौटा दिया । श्रीकृष्ण ने मथुरा का राज्य जीता और लौटा दिया । आधुनिक काल में लाल बहादुर ने पाकिस्तान से युद्ध जीता और जीती हुई जमीन उन्हें लौटा दी । इंदिरा गांधी ने बंगला देश से युद्ध जीता और उसकी जमीन उन्हें लौटा दी । अर्जन के साथ विसर्जन जरूरी है ।**

—कड़वे प्रवचन भाग 7 पृ० 134

अंततः उपरोक्त विवेचन एवं विश्लेषण से इतना कहना काफी होगा कि भारतीय संस्कृति संसार की सब संस्कृतियों से श्रेष्ठ है । अतः जब तक सूर्य चन्द्रमा रहेंगे यह सदा अमर रहेगी । तभी तो डॉ० इक़बाल ने भी कहा है—

**यूनान-ओ-मिस्र-ओ-रोमा सब मिट गये जहाँ से ।**
**अब तक मगर है बाक़ी नामोनिशां हमारा ।।**
**कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी ।**
**सदियों रहा है दुश्मन दौरे-ज़मां हमारा ।।** —तराना-ए-हिन्द

# 6. ध्यान

परमात्मा को अनुभव करने के लिये उसके गुण, कर्म, स्वभाव का निरंतर चिन्तन करना किन्तु बीच में किसी अन्य वस्तु या विषय का स्मरण न करना ध्यान कहलाता है। वस्तुतः धारणा का पक्का होना ही ध्यान हैं ध्यान करने वाला जब उस ध्येय वस्तु से अपने मन की सर्वथा एकाग्रता अनुभव करने लगता है तब विधि यह है कि व्यक्ति अपनी जीभ मत हिलावे। जब तक जीभ नहीं हिलेगी ध्यान लगा रहेगा। इसके विषय में महर्षि कपिल लिखते हैं–

**ध्यानं निविषयं मनः** –सांख्य दर्शन 6.25

जब आसन स्थिर हो जाता है, तब बाहरी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को छोड़ देती हैं। परन्तु विषयों में वासना होने के कारण मन की चंचलता नहीं रुकती। इसलिये मन को विषयों से हटा कर आत्म चिन्तन में लगाना चाहिये, जब मन विषय वासना से हट जाता है तभी एकाग्रता हो पाती है, उसी अवस्था को ध्यान कहा जाता है। ध्यान तीन प्रकार का होता है– (1) स्थूल ध्यान, (2) ज्योति ध्यान, (3) सूक्ष्म ध्यान। ध्यान के दो मुख्य कार्य हैं–आत्मशुद्धि और आत्म समर्पण।

अनेक व्यक्ति ध्यान करते हैं। यत्र तत्र ध्यान की कक्षाएँ भी लगाई जाती हैं। इससे प्रतीत होता है कि ध्यान ऐसी सुलभ क्रिया है जिसे कोई भी व्यक्ति कभी भी लगा सकता है। ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः हमारी ध्यान से पूर्वावस्था धारणा ही परिपक्व नहीं होती तो ध्यान कैसे लगेगा? यदि ध्यान लग जाए तो इससे अगला कदम ही समाधि का हैं परिपक्व ध्यानी को समाधि दूर नहीं होती। न तो समाधि सबकी लग सकती है तथा न ही ध्यान। पतंजलि ने ध्यान के निम्नलिखित 9 विघ्न बतलाये हैं – (1) रोग, (2) चित्त की अकर्मण्यता, (3) संशय, (4) प्रमाद, (5) आलस्य,(6) प्रविरति, (7) विपरीत ज्ञान, (8) अलब्ध भूमिकरण अर्थात् चित्त का एकाग्र तथा

निरुद्ध न होना। क्षिप्त, मूढ़ तथा विक्षिप्त चित्त समाधि के लिये सर्वथा अयोग्य है। (9) अनावस्थितत्व अर्थात् चित्त का समाधि की भूमि अवस्था में स्थिर न रहना। ध्यान लगाते समय इन विघ्नों से ऊपर होना ही चाहिये अन्यथा अभीष्ट फल नहीं मिलेगा। आजकल तो क्षिप्त तथा विक्षिप्त चित्त वाले भी ध्यान लगाने बैठ जाते हैं।

ध्यान का स्थान योगांगों में 7वां है। इससे आगे है समाधि। हम यम, नियम, प्राणायाम, आदि योग के प्राथमिक अंगों की सर्वथा उपेक्षा करके एकदम ध्यान में पहुँचने का यत्न करते हैं तो ध्यान कैसे लगेगा। पतंजलि कहते हैं कि योग के सारे अंगों के अनुष्ठान से ही अशुद्धि का क्षय तथा ज्ञान का प्रकाश होता है। अशुद्धि का क्षय किये बिना ध्यान लग ही नहीं सकता। यह अशुद्धि शरीर तथा मन दोनों प्रकार की है। इनके अतिरिक्त भी ध्यान में मन न लगने के कारण भी निम्नलिखित हैं।

ध्यान में मन क्यों नहीं लगता? इसलिये कि आप लगाना नहीं चाहते। केवल आँखें बंद कर बैठकर खानापूर्ति करना चाहते हैं। क्या कभी आपने सोचा कि भोजन में मन क्यों नहीं लगता? आप कहेंगे खूब लगता है। इच्छापूर्वक भरपेट खाते हैं। ठीक है, किन्तु कभी न कभी तो ऐसा होता ही होगा कि भोजन करने को आपका मन न करे। यह कब होता है? जब पेट में विकार हो तथा पेट में गया हुआ पहला भोजन न पचा हो, तो कितना भी स्वादिष्ट भोजन आपके सामने रख दिया जाये, उसे खाने की इच्छा नहीं होगी। यही अवस्था मन की है। शरीर का भोजन खाद्य पदार्थ हैं तथा मन का भोजन चिन्तन, मनन, ध्यान हैं। मन यहाँ खूब रमेगा, यहाँ से डिगेगा नहीं। किन्तु कब, जबकि उसमें उसी प्रकार की इच्छा हो जैसी कि भोजन से पूर्व शरीर में थी। मन में ऐसी भूख रहने पर निश्चित् रूप से आपका मन ध्यान में लगेगा, अन्यथा नहीं। इसलिये ध्यान का आरम्भ करने से पूर्व मन में ध्यान के लिये भूख, इच्छा उत्पन्न कीजिए, मन अवश्य लगेगा अन्यथा ध्यान के नाम पर आँखें बंद करके बैठने का कोई

लाभ नहीं। हाँ, वृत्तियों का थोड़ा बहुत केन्द्रीकरण तो इससे हो जायेगा, जो लौकिक जीवन में तो काम देगा किन्तु अध्यात्म में आपकी प्रगति नहीं कर पायेगा।

चाहे आप भोजन स्वच्छ स्थान पर बैठकर करते हैं या पाँच सितारा होटल में हो तो क्या ही बात है? वहाँ मन प्रसन्न होता है। गन्दे स्थान पर बैठकर आप भोजन नहीं कर सकते। ऐसे ही ध्यान भी कहीं भी बैठकर नहीं किया जाता। एकान्त तथा शुद्ध वातावरण में ही ध्यान लगेगा। भोजन करते समय यदि मांगने वाले आ जायें तो भी आपका ध्यान भोजन से हट जायेगा तथा चाहेंगे कि ये यहाँ से चला जाये। इसी प्रकार ध्यान करते समय एकान्त होना अति अनिवार्य है। वहाँ कोई शोर शराबा न हो तो, तभी ध्यान लग पायेगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार एकान्त तथा स्वच्छ वातावरण ध्यान के लिये अत्यावश्यक है।

भूख भी है, वातावरण तथा स्थान भी शांत एवं शुद्ध है, तब भी सम्भव है कि ध्यान न लगे। किसलिये? इसलिये कि ध्यान में जाने से पूर्व मन में उत्कण्ठा भी होनी चाहिये। जैसे भूख तो आपको है, किन्तु किन्हीं आवश्यक कार्यों के कारण उन्हें छोड़ कर भोजन नहीं कर सकते, तो ऐसी भूख से भी कोई लाभ नहीं। भोजन के समय सभी कार्यों को छोड़ना ही होगा। इसी प्रकार यदि आप ध्यान का प्रयोग करेंगे तो अवश्य लाभ होगा।

निश्चित समय भर पेट खा लेने पर भी दूसरे समय भूख लग जाती है। यदि कहीं सभा आदि में बैठे हों तो भोजन का समय होते ही घड़ी की ओर निगाह चली जाती है। इसी प्रकार ध्यान के समय का भी नियम है। वह नियमित होना चाहिये। ऐसा नहीं कि आज 5 बजे कर लिया तो कल 7 बजे। ऐसा करने से समय की निरन्तरता नहीं बनेगी तथा जब समय मिले, तभी ध्यान के लिए बैठ जाने से लाभ नहीं होगा। निश्चित स्थान के समान ध्यान का निश्चित समय भी होना चाहिये। ऐसा होने से वह समय आने से पहले ही आपका

ध्यान नित्य किये जाने वाले ध्यान की ओर चला जायेगा ।

निश्चित समय पर स्वच्छ एवं शांत वातावरण में ध्यान के लिये बैठ गये तो क्या इतने मात्र से ध्यान लग जायेगा? नहीं, अभी तो बहुत कुछ शेष है । क्या? आप शान्त वातावरण में शान्ति से भोजन कर रहे हैं, किन्तु तभी नाचने कूदने वाले आपके सामने आ जायें । उनकी कला देखने को आप उत्सुक हो जायें । तो या तो भोजन को बीच में ही छोड़ देंगे या अनमने ढंग से शीघ्र शीघ्र समाप्त कर लेंगे क्योंकि इस समय आपका मन उस तमाशे को देखने में है । यही अवस्था ध्यान की हैं ध्यान में बैठते ही आपका मन इधर-उधर भागने लगेगा । किधर? उधर ही कि जिस कार्य से, जिस वातावरण से आप अभी-अभी निकल कर आ रहे हैं । लाभ हानि आदि से युक्त वातावरण से निकलकर यदि हम एकदम ध्यान में बैठ जाते हैं तो ध्यान नहीं लगेगा । इसके लिये आसन ग्रहण करने से पूर्व ही हमें अपनी हानि लाभ की बातों को छोड़ना होगा । अन्यथा आँखें बंद करके बैठने पर भी मन अपने व्यापार आदि में उलझा रहेगा, ध्यान नहीं लग पायेगा ।

शुद्ध स्वच्छ स्थान में बैठे निश्चिन्तता से एकान्त में भोजन कर रहे हैं, किन्तु यदि वहाँ कमरे के अन्दर से ही चींटियां आदि निकलकर शरीर पर चढ़ने लगें तो भी भलीभाँति भोजन नहीं कर सकेंगे । यही अवस्था ध्यान की है । ध्यान करने तो हम बैठ गये, किन्तु मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विकारों की एक पूरी सेना खड़ी है, जो ध्यान का आरम्भ करते ही सक्रिय हो जाती है । इसके सक्रिय होते ही मन में भाँति-भाँति के विकार, भाँति-भाँति के दुर्विचार सक्रिय हो जाते हैं । अब तक मन में ये प्रसुप्त की दशा में थे ।

जिस प्रकार बिल में पानी डालते ही उसमें रहने वाला चूहा आदि प्राणी बिल से बाहर निकल आता है, उसी प्रकार ध्यान का मृदु तथा शीतल साथ पाते ही मन में पहले से ही छिपे हुए काम, क्रोध आदि भाव एक-एक करके तथा कभी-कभी संयुक्त रूप में भी प्रकट

होने लगते हैं। आवश्यक नहीं कि ये भाव विद्रोही ही हों। इनका स्वरूप प्रेम एवं मैत्रीपूर्ण भी हो सकता है। अपने प्रियजन की स्मृति, बच्चों की चिन्ता या घर के ही किसी अन्य कर्म में लगाव होने पर भी ध्यान नहीं लग पायेगा। इसलिये संसार में फैले विचारों को ध्यान में जाने से पूर्व ही समेट लीजिये। इसी के प्रतीक स्वरूप संध्या में बैठते ही सर्वप्रथम सिर की चोटी में गांठ लगाई जाती है। इसका भाव यही है कि मैं अब तक बाह्य विषयों में बिखरी हुई वृत्ति को समेट कर एक स्थान पर प्रेणीभूत करता हूँ। इस प्रकार जिस स्थान पर धारणा की जा रही है, केवल उसी का ध्यान, ध्यान करते समय रहेगा, अन्य का नहीं। अर्जुन को द्रौपदी के स्वयंवर में ऊपर खंभे पर बंधी काग़ज़ की मछली की आँख ही दिखाई दे रही थी, क्योंकि निशाना वहीं लगाना था। इसी प्रकार जब आपको केवल अपना लक्ष्य ही दिखलायी पड़े अन्य कुछ नहीं, तब ध्यान अवश्य ही लगेगा।

व्यक्ति शीघ्र सीधे ही ध्यान में जाने का प्रयास करते हैं। सोचते हैं कि आँखें बंद करके बैठें तथा एकदम ध्यान लग जाये। यह सम्भव नहीं। हां, बाह्य वातावरण से हटकर उस समय थोड़ी देर तक शांत सा रहने का अनुभव आपको होने लगेगा। किन्तु यह ध्यान नहीं है। जिस प्रकार भवन की छत पर जाकर आप शीतल वायु तथा निर्मल आकाश में विचरण करते हुए सुख का अनुभव करते हैं, मोक्ष भी कुछ इसी प्रकार का है। सांसारिक बन्धनों को, वासनाओं को, कार्यों को क्रमशः समाप्त करते हुए जब इस धारणा तथा ध्यान में प्रवेश करेंगे तो अगला कदम ही समाधि है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि सीढ़ी के अन्तिम ऊपर वाले डंडे से ऊपर मकान की छत ही है, जिसके ऊपर खुला एवं विस्तृत आकाश है। भवन की छत पर जाने के लिये हम क्रमशः एक-एक डंडे पर ही तो पैर रखकर ऊपर चलते जाते हैं, न कि प्रथम बार में ही बीच वाले या अन्तिम डंडे पर पैर रख लेते हैं।

यही प्रकार हमें ध्यान में अपनाना होगा। योग दर्शन में ध्यान से पूर्व सात अंग और भी हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम,

प्रत्याहार तथा धारणा। इन्हें पार किये बिना सीधे ही ध्यान में प्रवेश करना सर्वथा असम्भव है। अतः ध्यान लगाने से पूर्व योग के इन अंगों का अभ्यास भी कर लेना चाहिये जोकि परमावश्यक है। हमें ध्यान बहुत सरल जान पड़ता है, जबकि इन अंगों का पालन कठिन जान पड़ता है। कठिनता से सुगमता की ओर चलना मानव का स्वभाव है। इसीलिये हम केवल ध्यान की बात करते हैं, इन पूर्ववर्ती अंगों की नहीं।

यदि ध्यान इतना सरल होता तो पतंजलि को इन पूर्ववर्ती अंगों का वर्णन करने की आवश्यकता ही नहीं थी। आगे के अंगों आसन, प्राणायाम आदि से साधक के शरीर तथा मन पूर्ण रूप से शुद्ध एवं निरोग हो जाते हैं। इसके उपरांत ही वह धारणा में प्रवेश का अधिकारी होगा, इससे पहले नहीं। शुद्ध पवित्र मन वाला व्यक्ति ही धारणा की कोई सिद्धि कर सकता है। धारणा परिपक्व होने पर ही ध्यान में प्रवेश हो सकता है। इससे पूर्व नहीं। वस्तुतः ध्यान मानव जीवन में सफलता के लिये परमावश्यक है।

# 7. श्रद्धा

प्रभु के नाम पर संसार में अनेक सम्प्रदाय फैले हैं । जो जिसका मत है, वह उससे शृंखलाबद्ध रीति से जकड़ा हुआ है । उन मतों से जकड़े हुए जनों से यदि प्रश्न किया जाए कि वे अपने मतों से क्यों जकड़े हुए हैं? तो वे प्रत्युत्तर में आस्था, विश्वास आदि शब्दों का प्रयोग कर यही कहते जाते हैं, अपनी-अपनी आस्था, विश्वास, निष्ठा की बात है । कोई कहता है कि हमारी श्रीराम में श्रद्धा है इसलिये हम श्रीराम को मानते हैं । और कोई कहता है कि हमारी श्रीकृष्ण में श्रद्धा है इसलिये हम श्रीकृष्ण को मानते हैं । प्रभु के विषय में भी आस्था, विश्वास का प्रयोग भी होता है ।

अपनी-अपनी मान्यताओं की प्रतिष्ठा में सभी यही कहते सुने जाते हैं कोई भी कुछ भी माने अपनी श्रद्धा है । तात्पर्य हुआ लोक मनमानी सोच, विचार मत को श्रद्धा मानता है । सिद्धान्त, ईश्वर, ज्ञान आदि जीवन के उन्नायक विषय मत मतान्तर वादियों द्वारा श्रद्धा, विश्वास आदि शब्दों से ऐसे ढक दिये जाते हैं कि जिससे यथार्थ ज्ञान न तो वे स्वतः करते हैं और न करा पाते हैं । बस अमुक में हमारी श्रद्धा है अतः मानते हैं । अमुक में हमारी श्रद्धा नहीं है अतः नहीं मानते । यही कथन वंशानुक्रम से उनमें विद्यमान है । इस वंशानुक्रम के कथन से परिवार में शांति की दिशा भी नहीं दीखती । अपने से बड़े सास श्वसुर, माता-पिता, भाई, भाभी आदि का सम्मान भी श्रद्धा और अश्रद्धा पर ही टिका रहता हैं जब कि सैद्धान्तिक आचार का निर्देश यह है कि अपने से बड़ों का सर्वदा सम्मान करणीय है ।

अनेक मत मतान्तरों का होना परिवार आदि में आदर, सम्मान का न होना आदि सिद्ध करते हैं कि लोक में श्रद्धा शब्द का जो अर्थ माना जा रहा है वह उपयुक्त नहीं है । श्रद्धा शब्द का अर्थ तो सत्य का धारण है ।

**श्रद्धा शब्द का अर्थ**

श्रद्धा शब्द श्रत् एवं धा इन दो शब्दों से बना है । श्रत् का अर्थ सत्य तथा धा का अर्थ है धारण करना । इस प्रकार श्रद्धा शब्द का अर्थ हुआ—सत्य का धारण करना, सत्य का बोलना, सत्य का करना । अर्थात् जीवन के प्रत्येक पक्ष में सत्य के ग्रहण के सामर्थ्य को प्राप्त करना श्रद्धा है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

**श्रद्धा महत्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है ।** —चिन्तामणि

श्रद्धा मनमानी सोच नहीं है । श्रद्धा अनादि तथ्य है । श्रद्धा ईश्वरीय सम्प्रेरणा है । अनादि ईश्वर की अनादि देन है । श्रद्धा शब्द ईश्वर ने प्रदान किया है । श्रद्धा सत्य के धारण, कथन एवं करने का सामर्थ्य कैसे उत्पन्न होता है, इसका निर्देश वेदों में किया है—

**व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ।**

**दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।** यजु० 19/30

मंत्र का तात्पर्य हुआ जो व्यक्ति सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य आदि का आचरण करके, उत्तम अधिकार प्राप्त कर लेता है । उत्तम गुणों से युक्त होता हुआ, उत्तम अधिकारी, निपुणता ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, सब ओर से सत्कृत होता है, उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त करता है । जब शुभ गुणों के आचरण एवं ब्रह्मचर्य, सत्य आदि व्रतों के द्वारा उसकी दक्षिणा अपना प्रचुर सत्कार दिलाती है एवं अन्यों को सत्कृत करवाती है, तब उस व्यक्ति की ब्रह्मचर्य, सत्य आदि के आचरण में श्रद्धा, दृढ़ विश्वास उत्पन्न होते हैं क्योंकि सत्य का आचरण ही सत्कार कराने वाला होता है ।

जब उत्तरोत्तर श्रद्धा = सत्य का आचरण बढ़ जाता है, तब उस श्रद्धा = सत्य के आचरण के द्वारा व्यक्ति परमेश्वर मोक्ष धर्म आदि को प्राप्त कर पाता है अन्यथा नहीं । अतः सिद्ध यह हुआ सत्य परमेश्वर, सत्य धर्मादि की प्राप्ति के लिए सर्वदा श्रद्धा = सत्याचरण उत्साह आदि मनुष्यनिष्ठ कर्तव्य करने योग्य हैं ।

महर्षि दयानंद ने व्रतेन दीक्षामाप्नोति (यजु० 18/30) मंत्र में आये श्रद्धा शब्द के यजु० वेदभाष्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में क्रमशः श्रद्धाम = सत्य के धारण में प्रीतिरूप श्रद्धा को श्रद्धाम् = दृढ़ विश्वासं श्रद्धोत्साहि आदि पुरुषार्थः अर्थ किये हैं ।

संस्कार विधि के वानप्रस्थविधि में भी महर्षि दयानन्द ने इस मंत्र की व्याख्या की है । वहाँ भी श्रद्धाम =सत्य धारण में प्रीति को, श्रद्धया = सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से, ये श्रद्धा शब्द के अर्थ किये हैं ।

वानप्रस्थविधि में उद्धृत अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि । व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहं । । यजु० 20-24 इस यजुर्वेदीय मंत्र में आए श्रद्धाम् शब्द का अर्थ करते हुए महर्षि दयानंद ने लिखा है–

श्रद्धाम् = सत्य की धारणा को और श्रद्धाम् =सत्यधारिकां क्रियाम् = सत्य के धारण करने वाले नियम को कहते हैं । संस्कारविधि के वानप्रस्थविधि में महर्षि दयानन्द ने मुण्डकोपनिषद् का भी एक वचन उद्धृत किया है । जिसका पहला चरण है– तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्तया विद्वांसो भैक्ष्यचयाञ्चरन्तः । (मुण्ड० 1-2-7) इस वचन में यह श्रद्धा शब्द आया है, जिसका महर्षि दयानंद ने अर्थ किया –श्रद्धाम् = परमात्मा में प्रीति करके ।

श्रत् यह सत्य का नाम है । श्रत् =सत्य जिसमें धारण किया जाता है वह आस्तिक्यबुद्धि श्रद्धा कही जाती है । आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धा पुण्य = शुभकर्म करने वालों का मनोविशेष होता है । श्रद्धा से सत्य से सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त ब्रह्म प्राप्त किया जाता है । श्रद्धा के बिना ज्ञान का अभाव होता है ।

निघण्टु, महर्षि दयानंद एवं उव्वट आदि द्वारा किये गये श्रद्धा शब्द के अर्थों से स्पष्ट है कि श्रद्धा सत्य के अपनाने का क्रियारूप है । परमात्मा में प्रति का निमित्त है एवं सत्यनिष्ठ धार्मिकजनों के प्रति प्रियाचरण का नाम श्रद्धा है ।

**श्रद्धा व सत्य का घनिष्ठ संबंध**

श्रद्धा शब्द के इन अर्थों से यह भी स्पष्ट हुआ कि श्रद्धा और सत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रद्धा और सत्य के इस घनिष्ठ संबंध को वेदों में निर्दिष्ट किया गया है। जैसे –

**दृष्टवा रूपे व्याकरोतसतयानृते प्रजापतिः।**

**अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापति।।** (यजु० 18/77)

सत्य एवं झूठ ये दोनों अनादि काल से विद्यमान हैं। प्रजापति परमात्मा ने सत्य एवं झूठ के स्वरूपों को भली प्रकार देखकर व्यक्तियों के कल्याण के लिए उनके अलग-अलग स्वरूप दिखाये हैं। प्रजापति ने सत्य में, धर्म में श्रद्धाम् = प्रीति को धारण करने का निर्देश दिया है। अनृते = मिथ्या, वेदादि शास्त्र विरुद्ध अन्याय अधर्म में अप्रीति करने का उपदेश किया है।

इस मंत्र से स्पष्ट हुआ सत्य को धारण करने की इच्छा, सत्य धारण करने वाली क्रिया, सत्यवादों, धार्मिकजनों में प्रीति, सत्यस्वरूप प्रभु में प्रीति, प्रभु में दृढ़ विश्वास श्रद्धा कहे जाते हैं। सत्य को नितान्त धारण करना, आपत्ति में सत्य को न छोड़ना यह श्रद्धा है।

हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि मत मतान्तरों के क्रमशः बलि चढ़ाना बलि के लिए प्रेरित करना आदि चन्द्रमा के अंगुली से दो टुकड़े करना, पंच ककार धारण करने के लिए बाध्य करना, ईश्वर पुत्र के मार दिये जाने से व्यक्तियों का उद्धार होना, पृथिवी को अंगूठे से दबाना आदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध सृष्टिविद्या विरुद्ध विचार श्रद्धा के कर्म नहीं है, अपितु अन्धविश्वास है। साथ ही ये मत मतान्तर मानने योग्य नहीं है। श्रद्धा योग्य व मान्य मात्र वैदिक धर्म ही है।

मत मतान्तरों की जो अलग-अलग मान्यताएँ हैं, यह पृथकता ही इंगित करती हैं कि ये मत मतान्तर श्रद्धा के स्थान नहीं है, सत्य के निर्देशक नहीं है। यदि ये मत मतान्तर सत्य होते, पृथकता ही न होती। ये मत मतान्तर अपने-अपने द्वारा ईश्वर का विभिन्न प्रकार

से निर्देश करते हैं जो वस्तुतः ईश्वर है, वह तो सत्यस्वरूप है इनसे भिन्न है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है– सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। (2/1 क) अर्थात् जीवात्मा गुहा में स्थिति सत्य, ज्ञान एवं अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है। व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होता है। तात्पर्य हुआ ब्रह्म परमात्मा सत्यस्वरूप है ज्ञानरूप है अनन्त है, उसी सत्यस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा = ईश्वर प्राप्ति में प्रीति की जाती है।

ईश्वर की प्राप्ति में श्रद्धा = सत्य के ग्रहण का होना अत्यन्त अनिवार्य है। चित्तवृत्तियों का निरोध भी प्रभुप्राप्ति में अत्यन्त आवश्यक है, उस निरोध का अभ्यास कैसा हो, इसका निर्देश करते हुए योगदर्शन में कहा है–

**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः** (योग 1/14) अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध का जो अभ्यास है, वह लम्बे काल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक किया जाता हुआ दृढ़ होता है।

वह अभ्यास कैसे दृढ़ होता है, इसका उपाय भी योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने निर्दिष्ट किया है। उस उपाय में व्यास ने श्रद्धा का भी समावेश किया है। तद्यथा–

सत्कार = तपसाब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च आसेवितः सम्पादितः सत्कारवान्दृढ़भूमिर्भवति। (व्या० भा० योग 1/14) सत्कारपूर्व तपसा = सुख दुख आदि को सहते हुए, ब्रह्मचर्येण = इन्द्रियों को वश में करते हुए, विद्यया = वेदादि सत्य विद्या पढ़ते हुए, श्रद्धया च = और सत्य को धारण करते हुए, किया गया सुसेवित अभ्यास सुदृढ़ सुस्थिर बन जाता है।

योगदर्शन के इसी प्रकार के 20वें सूक्त में असम्प्रज्ञात समाधि का निर्देश है। सूत्र है–

**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।** (यो० 1/20)

प्रभु सानिध्य से मोक्ष को प्राप्त कराने वाली असम्प्रज्ञात समाधि होती है। परमात्मा का साक्षात् कराने वाली इस समाधि के

श्रद्धा, वीर्य स्मृति होती है। परमात्मा का साक्षात् करने वाली इस समाधि के श्रद्धा, वीर्य स्मृति उत्कर्ष ज्ञान उपाय होते हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि के उपायों में प्रथम श्रद्धा है। श्रद्धा किसे कहते हैं, इसके विवेचन करते हुए महर्षि व्यास ने निर्देश किया–

चित्त की प्रसन्नता श्रद्धा कही जाती है। वह श्रद्धा कल्याणकारिणी माता मे समान योगी की रक्षा करती है। उस श्रद्धावान विवेकार्थी का उत्साह प्रकट होता है। अतः श्रद्धावान् व्यक्ति को कभी भी कठिनाइयों से घबराना नहीं चाहिये अपितु सहनशील होकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आगे को बढ़ना चाहिये। श्रद्धा व विश्वास की कमी से व्यक्ति में अकर्मण्यता आती है और वह पलायन की ओर भागता है।

महर्षि व्यास ने चित्त की प्रसन्नता को श्रद्धा कहा है। चित्त की प्रसन्नता रागादि से शून्य होने पर सत्य को धारण करने पर आती है। प्रसन्नता की प्राप्ति में शुद्धता पवित्रता सत्यता अनिवार्य है। वह सत्यता माता के सदृश योगी की विघ्नों से रक्षा उत्साहित योगी स्मृति=पूर्वाभ्यस्त सामर्थ्य को ग्रहण करता है। उस स्मृति सामर्थ्य से योगी चंचलता आदि को छोड़ संयम को प्राप्त कर लेता है। वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानने का सामर्थ्य प्राप्त करता है, जिस सामर्थ्य से वैराग्य प्राप्त करके असम्प्रभात समाधि को सिद्ध करने में समर्थ होता है।

तात्पर्य यह हुआ कि श्रद्धा = सत्याचरण प्रभु प्राप्ति का मुख्य उपाय है। मन्दिरों, मस्जिदों, गिरिजाघरों, गुरुद्वारों में जाना एवं उन स्थानों में स्थित कब्रों, मूर्तियों आदि को इष्टदेव मानना श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा तो प्रयत्न विशेष है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध पदार्थ का ज्ञान है। कोई भी कुछ भी माने अपनी-अपनी श्रद्धा है, यह कथन अपने साथ धोखा है। श्रद्धा = सत्यनिष्ठ प्रयत्न ईश्वर, धर्म प्राप्ति का साधन है, सफलता का निमित्त है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है– **यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति।** (1-1-10) अर्थात् जो व्यक्ति विद्या, श्रद्धा = सत्यनिष्ठ एवं

उपनिषद् = रहस्य विद्या के ज्ञान व तल्लीनता से कार्य करता है, वहीं अधिक वीर्यवत्तरम् = प्रभावजनक, बलशाली साफल्य को प्राप्त करता है ।

वेद में श्रद्धा शब्द बहुत आया है । ऋग्वेद के दशम् मण्डल में तो एक श्रद्धा सूक्त ही है, जिसमें 5 मंत्र हैं । इस सूक्त की द्रष्टी श्रद्धा कामायनी है । इस (ऋ० 10/151/1-5) श्रद्धा सूक्त में बताया है कि श्रद्धा सत्य के ग्रहण करने पर ही ईश्वर की प्राप्ति होती है ।

**श्रद्धयाग्निः समिध्यते ।** (ऋ० 10/151/111)

श्रद्धया = सत्य को धारण करके ही, अग्नि = परमात्मा रूप अग्नि प्रदीप्त की जाती है । श्रद्धा सत्यस्वरूप ईश्वर की प्राप्ति व उन्नति सफलता की हेतु है । अतः मेधा = ज्ञान संग्रहण सत्य धारिका बुद्धि के साथ श्रद्धा = सत्य धारण करने की शक्ति और मेधाम् = ज्ञान ग्रहण के बुद्धि सामर्थ्य को प्रदान करे ।

इस प्रकार श्रद्धा मनमानी सोच व मनमर्जी का नाम नहीं है । अपितु श्रद्धा सत्य का धारण, यथार्थ विवेक, सत्यस्वरूप परमेश्वर में प्रीति, सत्यनिष्ठ धार्मिक जनों में प्रियाचरण श्रद्धा होती है । यह श्रद्धा ही निराकार, सर्वव्यापक, सत्यस्वरूप प्रभु का साक्षात्कार कराती है, अतः सत्य जानें, सत्य पहचानें, सत्य करें व परिवार, राष्ट्र को सुखी समृद्ध करें, अन्धविश्वास को छोड़ें । सत्य जाने बिना प्रभु नहीं मिलेगा । जैसे महाभारत एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है–

**नाभुक्तं क्षीयते कव्य कोटिश तैपि ।**

**अवश्यमेव भोक्तव्य कृतं कर्म शुभाशुभं ।।**

बिना भोगे हुए कर्मों का नाश करोड़ों कल्प तक भी नहीं होता है । अतः शुभ अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है ।

# 8. ज्ञान की सात भूमिकाएं

श्रीवशिष्ठ जी ने लिखा है–

**ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।**
**विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ।।**
**सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका ।**
**पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ।।**

(योगवसिष्ठ उत्पत्ति 118/56)

पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा–इस प्रकार ये ज्ञान की सात भूमिकाएं मानी गई हैं । इनके स्वरूप को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है ।

## 1. शुभेच्छा

**स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।**
**वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ।।**

(योगवसिष्ठ उत्पत्ति 118/8)

मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषों के द्वारा जानकर तत्व का साक्षात्कार करूँगा – इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्ष की इच्छा होने को ज्ञानीजनों ने शुभेच्छा कहा है ।

अभिप्राय यह है कि सारी अशुभ इच्छाओं अर्थात् चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन, दुर्व्यसन, प्रमाद आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मों का मन, वाणी और शरीर से त्याग करना, नाशवान्, क्षणभंगुर, स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के उद्देश्य से तथा रोग-संकटादि की निवृत्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले यज्ञ, दान, तप, उपासनादि काम्यकर्मों को अपने स्वार्थ के लिये करना, मान, बढ़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए हों,

उनके बढ़ने की इच्छा का त्याग करना अपने सुख के लिये किसी से भी धनादि पदार्थों की अथवा सेवा करने की याचना न करना और बिना याचना के दिये हुए पदार्थों को या की हुई सेवा को स्वीकार न करना तथा किसी प्रकार भी किसी से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की मन में इच्छा न रखना ।

प्रभु की भक्ति, देवताओं का पूजन, माता-पितादि, गुरुजनों की सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमों के अनुसार जीविका द्वारा गृहस्थ का निर्वाह और शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों में आलस्य तथा सब प्रकार की सांसारिक कामना का त्याग करना एवं प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेयोपनिषद् 1.3), ब्रह्म विज्ञानधन है, अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्योपनिषद् 2) यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है । 'तत्वमसि' (छांदोग्योपनिषद् 6) वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म तू ही है और 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ (बृहदारण्योपनिषद्1.4.10) इन वेदान्त-वाक्यों का एकमात्र परमात्मा के तत्वरहस्य-ज्ञानपूर्वक उनको प्राप्त करने की इच्छा से सत् शास्त्रों में अध्ययन करना और सत्पुरुषों का संग करके उनसे इन महावाक्यों का श्रवण करना ही शुभेच्छा नाम की प्रथम भूमिका है । इसलिये इस भूमिका को 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है ।

## 2. विचारणा

**शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।**
**सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ।।**

(योगवसिष्ठ 118/9)

शास्त्रों के अध्ययन-मनन और सत्पुरुषों के संग तथा विवेक-वैराग्य के अभ्यासपूर्वक सदाचार में प्रवृत्त होना – यह विचारणा नाम की भूमिका कही जाती है ।

उपर्युक्त प्रकार से सत्पुरुषों के संग, सेवा एवं आज्ञा-पालन से, सत्-शास्त्रों के अध्ययन-मनन से तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-

सदाचार के सेवन से उत्पन्न हुआ विवेक ही 'विचारणा' है। भाव यह कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तु के विवेचन का नाम 'विवेक' है। विवेक इनका भली भाँति पृथक्करण कर देता है। सब अवस्थाओं में और प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण आत्मा और अनात्मा का विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है। जिसका कभी नाश न हो, वह सत् है और जिसका नाश होता है वह असत् है। श्रीकृष्ण ने कहा है—

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**

**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्त त्वदर्शिभिः।।** (गीता 2/16)

'असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों को ही तत्व तत्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।

इस नियम के अनुसार जो दृश्य जड़ पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति-विनाशशील होने के कारण असत् है और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है। जीवात्मा सत् है। क्योंकि वेदानुसार ये तीनों अनादि सत्ताएँ हैं। इनके अतिरिक्त संसार सब कुछ क्षणभंगुर, नाशवान् और परिवर्तनशील है।

विवेक के द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्य का पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्य से आसक्ति हट जाती है, एवं इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में और कर्मों में कामना और आसक्ति का न रहना ही वैराग्य है। महर्षि पतंजलि ने कहा है—

**दृष्टानुश्रविकविपर्यावतृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।**

(योगदर्शन 9/15)

स्त्री, पुत्र, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोक के और स्वर्गादि परलोक के सम्पूर्ण विषयों में तृष्णा रहित हुए चित्त की जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम वैराग्य है।

सारी इन्द्रियों और विषयों के संग से उत्पन्न होने वाले जितने भी भोग हैं, वे सब अनित्य हैं, किन्तु अज्ञान से अनित्य में नित्यबुद्धि होने के कारण विषयभोगादि नित्य प्रतीत होते हैं। इसलिये उनको अनित्य मानकर उनसे वैराग्य करना चाहिये। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

**मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।**
**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।** (गीता 2/14)

'हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति, विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिये हे भारत ! उनको तू सहन कर ।

**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।**
**समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।** (गीता 2/15)

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्ष के योग्य होता है ।

अतः वैराग्य की प्राप्ति के लिये संसार के विषय भोगों को अनित्य और दुःखरूप समझकर उनमें आसक्ति रहित होना परमावश्यक है, यों समझकर ही विवेकी व्यक्ति उनमें नहीं रमते । श्रीकृष्ण ने कहा है—

**ये ही संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।**
**आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।** (गीता 5/22)

जो इन इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःख के ही हेतु हैं और आदि, अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।

इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जाने पर साधक का चित्त निर्मल हो जाता है । उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति में समता आदि गुण आने लगते हैं । उसके मन, इन्द्रिय और शरीर विषयों से हट कर वश में हो जाते हैं, फिर उसे गंगातट, तीर्थ स्थान, गिरि-गुहा, वन आदि एकान्तदेश का सेवन ही अच्छा लगता है । उसके ममता, राग-द्वेष, विक्षेप और मान-बड़ाई की इच्छा का अभाव-सा हो जाता है । विषयभोगों से स्वाभाविक ही उपरति हो जाती है एवं विवेक-वैराग्य के प्रभाव से वह नित्य परमात्मा के स्वरूप के चिन्तन में ही लगा रहता है । श्रीकृष्ण ने गीता में ज्ञान के साधन

बतलाते हुए कहा है–

**अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।**
**आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।**
**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।**
**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषनुदर्शनम् ।।**
**असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।**
**नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।**
**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।**
**विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।**
**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।**
**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।** (13/7-11)

श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदि की सरलता, श्रद्धा-भक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता और मन-इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह, इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख और दोषों का बार-बार विचार करना, पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना, मुझ परमेश्वर में अनन्य योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना, अध्यात्मज्ञान में नित्य-स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को ही देखना–यह सब ज्ञान है और जो इसके विपरीत है, यह अज्ञान है–यों कहा गया है। दूसरी भूमिकायें परिपक्व हो जाने पर उस साधन में उपर्युक्त गुण और आचरण आने लगते हैं। ऊपर प्रथम भूमिकायें बताये हुये महावाक्यों का निरन्तर मनन और चिन्तन करना ही प्रधान होने के कारण इस दूसरी भूमिका को विचारणा कहा गया है। अतः इसे मनन भूमिका भी कहा जा सकता है।

## 3. तनुमानसा

**विचारणाशुभेच्छान्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।**
**यात्रा सा तनुतामावात् प्रोच्यते तनुमानसा । ।**

(योग वसिष्ठ उत्पत्ति० 118/10)

शुभेष्छा और विचारणा के द्वारा इन्द्रियों के विषयभोगों में आसक्ति का अभाव होना और अनासक्त ही संसार में विचरण करना—यह 'तनुमानसा' कहते हैं ।

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममता के अभाव से, सत्पुरुषों के संग और सत् शास्त्रों के अभ्यास से तथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन—ध्यान के साधन से साधक की बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्व को ग्रहण करने की योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है । इसी को 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है ।

इस भूमिका में स्थिति साधक के अन्तःकरण में सम्पूर्ण अवगुणों का अभाव होकर स्वाभाविक ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया (दोष दृष्टि का अभाव), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान, तेज, क्षमा, दया, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति, समता, आदि सद्गुणों का आविर्भाव हो जाता है । फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब सदाचाररूप ही होती है तथा उस साधक को, संसार के सम्पूर्ण पदार्थ माया के कार्य होने से सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभाव से परिपूर्ण है—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीर सहित संसार के सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मों में उसकी वासना का भी अभाव हो जाता है । भाव यह है कि उसके अन्तःकरण में उनके चित्र संस्कार रूप में भी नहीं रहते एवं शरीर में अहंभाव तथा मन, वाणी और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में

कर्तापन का अभिमान नहीं रहता, क्योंकि वह परवैराग्य को प्राप्त हो जाता है । परवैराग्य का स्वरूप महर्षि पतंजलि ने यों बतलाया है–

**तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।** (योगदर्शन 1/16)

'प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण पुरुष के ज्ञान से तीनों गुणों में जो तृष्णा का अत्यंत अभाव हो जाना है, यह परवैराग्य का सर्वोत्तम वैराग्य है ।

पूर्वोक्त दूसरी भूमिका में स्थित पुरुष की तो विषयों का विशेष संसर्ग होने से कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है, परन्तु इस तीसरी भूमिका में पहुंचे हुए पुरुष की तो विषयों के साथ संसर्ग होने पर भी उनमें आसक्ति नहीं होती । क्योंकि उसके निश्चय में एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं । अतः परवैराग्य हो जाने के कारण उसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसार से अत्यन्त उपरत हो जाती हैं । यदि किसी काल में कोई स्फुरणा हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते, क्योंकि उसकी एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और संसार का विस्मरण होकर समाधि-सी हो जाती है । ये सब लक्षण परमात्मा की प्राप्ति के अत्यन्त निकट पहुँच जाने पर होते हैं ।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन करते-करते उस परमात्मा में तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरित के कारण परमात्मा के ध्यान में ही नित्य स्थित रहने से मन का विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नाम की तीसरी भूमिका है । अतः इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं । ये तीनों भूमिकाएँ साधनारूपा हैं । इनमें संसार से कुछ सम्बन्ध रहता है । अतः यहाँ तक साधक की 'जाग्रत अवस्था' मानी गयी है ।

## 4. सत्त्वापत्ति

**भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।**
**सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्वापत्तिरुदाहृता ।।**

(योगवसिष्ठ उत्पत्ति० 118/11)

ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा – श्रवण, विचारणा–मनन और तनुमानसा–निदिध्यासन भूमिकाओं के अभ्यास से चित्त के सांसारिक विषयों से अत्यन्त विरक्त हो जाने के उपरांत उसके प्रभाव से आत्मा का शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मा में तद्रूप हो जाना 'सत्वापत्ति' कहलाता है ।

उपर्युक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन के तीव्र अभ्यास से जब साधक सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, तब उसी को सत्वपत्ति नाम की चौथी भूमिका कहते हैं । इसी को गीता में निर्वाण ब्रह्म की प्राप्ति कहा गया है–

**योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।**
**स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।** (5/24)

जो पुरुष आत्मा में ही सुखी है, आत्मा में ही रमण करता है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त – 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करने वाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार गंगा-यमुना आदि सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम रूप को छोड़कर सागर में ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम रूप से रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्मा को ही प्राप्त हो जाता है और उसी में विलीन हो जाता है । जैसे श्रीकृष्ण ने कहा है–

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।**
**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।**

**भकत्वा मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।**
**ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।** (गीता 18/54-55)

'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के अनुभव से परमात्मा में एकीभाव से स्थित, प्रसन्न मन वाला ज्ञानयोगी न तो किसी के लिये शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है । ऐसा सारे प्राणियों में

समभाव वाला योगी मेरी पराभक्ति (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो जाता है । उस ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा को मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्व से जान लेता है तथा उस ज्ञाननिष्ठा से मुझ को तत्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है । जब साधक को परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है–

**स यो ह वै तत परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।**

(मुण्डकोपनिषद् 3.2.9)

फिर उसका इस शरीर और संसार से कुछ भी संबंध नहीं रहता । ब्रह्मवेता पुरुष के अन्तःकरण में शरीर और अन्तःकरण के सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है । जैसे स्वप्न से जगा हुआ पुरुष स्वप्न की घटना को मन की कल्पनामात्र समझता है, वैसे ही उस ब्रह्मवेत्ता के अन्तःकरण में यह संसार कल्पनामात्र प्रतीत होता है अर्थात् इस संसार की काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है । स्वप्न में और इसमें इतना ही अंतर है कि स्वप्न का समय तो भूतकाल है और संसार की स्वप्नवत् प्रतीति का समय वर्तमानकाल है तथा स्वप्न में तो जो मन बुद्धि थे, वे वर्तमान में भी इस जीवात्मा के साथ संबंधित हैं, किन्तु जब मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन बुद्धि इस शरीर में ही रह जाते हैं, उस ब्रह्मवेता के साथ ब्रह्म में संबंधित नहीं होते, इसलिये ब्रह्म की दृष्टि से तो इस संसार का अत्यन्त अभाव है ।

वस्तुतः ब्रह्म के कोई दृष्टि ही नहीं है । केवल समझाने के लिए उसमें दृष्टि का आरोप किया जाता है । ब्रह्म की दृष्टि में तो केवल एक ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं । ब्रह्मवेता के शरीर का जो अन्तःकरण है, उसमें इस संसार का तो अत्यन्त अभाव और परमात्मा का भाव प्रत्यक्ष है । यह ब्रह्मवेता का अनुभव है इसी अनुभव के बल पर शास्त्रों में यह कहा गया है कि एक परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

**तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।**

**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।** (5/17)

जिसका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और परमात्मा में ही जिनकी निरन्तर एकीभाव से स्थिति है ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति को अर्थात् पुनः न लौटनेवाली परम गति को प्राप्त होते हैं ।

भाव यह कि उसका मन तद्रूप ब्रह्मरूप हो जाता है । पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, एक आनन्द के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप का मनन करते-करते जब मन तन्मय—ब्रह्ममय हो जाता है, तब उसको तदात्मा कहते हैं ।

उपर्युक्त प्रकार के विशेषणों से विभूषित ब्रह्म का मनन करते-करते जब मन ब्रह्म में लीन हो जाता है और उन विशेषणों की आवृत्ति के प्रभाव से ब्रह्म के विशेष स्वरूप का बुद्धि में अनुभव हो जाता है, तब बुद्धि के द्वारा अनुभव किये हुए उस ब्रह्म के विशेष स्वरूप को लक्ष्य बनाकर जीवात्मा उस ब्रह्म का ध्यान करता है । यहाँ ब्रह्म तो ध्येय है, ध्यान करने वाला साधक ध्याता है । बुद्धि की वृत्ति ही ध्यान है । इस प्रकार ध्यान करते-करते जब बुद्धि उस ब्रह्म में विलीन हो जाती है, तब उसे तद्बुद्धि कहते हैं । इसके पश्चात् जब ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी न रहकर साधक की ब्रह्म के स्वरूप में अभिन्न स्थिति हो जाती है, तब उसे 'तन्निट' कहते हैं । इसमें ब्रह्म का नाम, रूप और ज्ञान रहता है, इसलिए यह प्रारम्भिक 'सविकल्प समाधि' है । इसी को सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । महर्षि पतंजलि ने लिखा है—

**तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।**

(योगदर्शन 1.47)

उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों के विकल्पों से मिली हुई समाधि सवितर्क है ।

इस प्रकार सविकल्प समाधि होने के बाद जब स्वतः ही साधक की निर्विकल्प समाधि हो जाती है, तब ब्रह्म का नाम रूप और ज्ञान ये तीनों विकल्प भिन्न-भिन्न नहीं रह जाते, एक अर्थमात्र वस्तु ब्रह्म का स्वरूप ही रह जाता है । इसी को निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । महर्षि पतंजलि ने कहा है—

**स्मृतिपरिह्रदौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।**

(योग दर्शन 1/43)

स्मृति के भली-भाँति लुप्त हो जाने पर अपने रूप से शून्य हुई के सदृश केवल ध्येयमात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने वाली निर्वितर्क समाधि है ।

इसमें साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है । अतः उसको तत्परायण कहते हैं । इस निर्विकल्प समाधि का फल जो निर्बीज असम्प्रज्ञात योग है, वही वास्तव में ब्रह्म की प्राप्ति है । उसी को यहाँ गीता में अपुनरावृत्ति कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान के द्वारा जिसके मल, विक्षेप और आवरणरूप कल्मष का नाश हो गया है, वह ब्रह्म को प्राप्त पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है, वह लौटकर नहीं आता ।

यही 'सत्वापत्ति' नाम की चौथी भूमिका है । इसमें पहुँचे हुए पुरुष को ब्रह्मवित् – ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है । इसमें संसार उस ज्ञानी महात्मा के अन्तकरण में स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरण की स्वप्नावस्था मानी जाती है ।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति, जनक आदि इस चौथी भूमिका को प्राप्त हुए पुरुष माने गये हैं ।

योगवसिष्ठ में जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त पुरुष की चौथी, पांचवीं, छठी, सातवीं भूमिका के रूप में चार भेद बतलाये गये हैं, इस प्रकार के भेद गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रंथों में नहीं पाये जाते । परमात्मा को प्राप्त पुरुष के लक्षण तो गीता में स्थान-स्थान पर आते

हैं, किंतु उसके इस प्रकार के अलग-अलग भेद नहीं बताये गये हैं। वस्तुतः में ब्रह्म की प्राप्ति होने के पश्चात् ज्ञानी महात्मा पुरुष का शरीर से कोई संबंध नहीं रहता। क्योंकि वह देहाभिमान से सर्वथा रहित होकर ब्रह्म में तल्लीन हो जाता है। अतः योगवसिष्ठ में बतलाये गये उन भेदों को ब्रह्मप्राप्त पुरुष के भेद न समझकर उसके अन्तःकरण के भेद समझने चाहिये।

## 5. असंसक्ति

**दशाचतुष्टाभ्यासादसंसंगफलेन च।**

**रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनाभिका।**

(योगवसिष्ठ, उत्पत्ति० 118/12)

शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति—इन चारों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से चित्त के बाह्याभ्यांतर सभी विषयसंस्कारों से अत्यन्त असंग हो जाने पर अन्तःकरण का समाधि में आरूढ़ हो जाने पर अन्तःकरण का समाधि में आरूढ स्थित हो जाना ही असंसक्ति नाम की पाँचवीं भूमिका कहा गया है।

परम वैरागय और परम उपरति के कारण उस ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी महात्मा का इस संसार और शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसीलिये इस पाँचवीं भूमिका को असंसक्ति कहा गया है। ऐसे पुरुष का संसार से कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करने के लिये बाध्य नहीं है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।**

**न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।** (3/18)

उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं

रहता । फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुष के सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना एवं संकल्प से शून्य होते हैं । इस प्रकार जिसके सारे कार्य ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं–

**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।**

**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।** (गीता 4.19)

अतः ऐसे पुरुष को उसके सम्मान के लिये 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है । ऐसा महापुरुष जब समाधि अवस्था में रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति अवस्था की भाँति संसार का बिल्कुल भान नहीं रहता और व्युत्थान-अवस्था में – व्यवहार-काल में उसके द्वारा पूर्व के अभ्यास से सत्ता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमान के बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं । उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे शास्त्रविहित ही होते हैं । उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था, उसकी किसी दूसरे के प्रयत्न के बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था हो जाती है । किंतु वास्तव में संसार के अभाव का निश्चय होने के कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधि के तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था भी कहते हैं । श्रीजडभरत जी इस पांचवीं भूमिका में स्थित माने जा सकते हैं ।

## 6. पदार्थाभावना

**भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम् ।**
**आभ्यन्तराणां ब्राह्मानां पदार्थानामभवनात् ।।**
**परमयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।**
**पदार्थाभवनानाम्नी षष्ठी संजायते गविः ।।**

(योगवसिष्ठ उत्पत्ति० 118/13-14)

उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक

अभ्यास से उस ज्ञानी महात्मा की आत्मारामता के प्रभाव से उसके अन्तःकरण में संसार के पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतर के किसी भी पदार्थ का स्वयं भान नहीं होता, दूसरों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक चिर काल तक प्रेरणा करने पर ही कभी किसी पदार्थ का भान होता है। इसलिए उसके अन्तःकरण की 'पदार्थाभावना' नाम की छठी भूमिका हो जाती है।

पाँचवी भूमिका के पश्चात् जब वह ब्रह्म प्राप्त पुरुष छठी भूमिका में प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरण में शरीर और संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसार का और शरीर के बाहर-भीतर का बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते जाते हैं। इसलिये उस भूमिका को पदार्थाभावना कहते हैं। जैसे गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष को बाहर-भीतर के पदार्थों का ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः उस पुरुष की इस अवस्था को गाढ सुषुप्ति अवस्था भी कहा जा सकता है। किन्तु गाढ़ सुषुप्ति स्थित पुरुष के तो मन-बुद्धि अज्ञान के कारण माया में विलीन हो जाते हैं। अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है, परन्तु इस ज्ञानी महापुरुष के मन-बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं। (गीता 5/17) अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिये यह गाढ़ सुषुप्ति से अत्यंत विलक्षण है।

गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष तो निद्रा के परिपक हो जाने पर स्वतः ही जाग जाता है, किंतु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुष की व्युत्थानावस्था तो दूसरों के बारंबार प्रयत्न करने पर ही होती है, अपने आप नहीं। उस व्युत्थानावस्था में वह जिज्ञासु के प्रश्न करने पर पूर्व के अभ्यास के कारण ब्रह्मविषयक तत्त्व-रहस्य को बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुष को 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं। श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिका में स्थिति माने जा सकते हैं।

## 7. तुर्यगा

**भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः ।**
**यत्स्वनावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ।।**

(योगवसिष्ठ उत्पत्ति० 118/15)

उपर्युक्त छहों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक चिरकाल तक अभ्यास होने से जिस अवस्था में दूसरों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करने पर भी भेदरूप संसार की सत्ता स्फूर्ति की उपलब्धि नहीं होती, अपितु अपने आत्मभाव में स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थिति को उसके अन्तःकरण की 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिये ।

छठी भूमिका के पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है । उस ब्रह्मवेता ज्ञानी महात्मा पुरुष के हृदय में संसार का और शरीर के बाहर भीतर के लौकिक ज्ञान का अत्यन्त अभाव हो जाता है । क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसको व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरों के द्वारा प्रयत्न किये जाने पर ही होती है । जैसे मुर्दा जगाने पर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्दे की भाँति हो जाता है । अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्दे में प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है । ऐसे पुरुष का संसार में जीवन निर्वाह दूसरे लोगों के द्वारा केवल उसके प्रारब्ध के संस्कारों के कारण ही होता है । वह प्रकृति और उसके कार्य सत्व, रज, तम—तीनों गुणों से और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं से अतीत होकर ब्रह्म में विलीन रहता है, इसलिये यह उस के अन्तःकरण की अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कही जाती है ।

ब्रह्म की दृष्टि में संसार का अत्यन्त अभाव है । उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस परमात्मा को नित्य ही प्राप्त है । अतः उसके

मन-बुद्धि में भी शरीर और संसार का अत्यन्त अभाव है । इसलिये ऐसे पुरुष को ब्रह्मविद्वरिष्ट कहते हैं । ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ट महापुरुष से वार्तालाप न होने पर भी उसके दर्शन और चिन्तन से ही व्यक्ति के चित्त में मल, विक्षेप और आवरण का नाश होने से उसकी वृत्ति परमात्मा की ओर आकृष्ट होने पर उसका कल्याण हो सकता है । इसलिए अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्तियों को विवेक, वैराग्यपूर्वक परमात्मा के ध्यान में निरन्तर स्थित रहने के लिये तत्परता से प्रयत्न करना चाहिये ।

# 9. स्तुति, प्रार्थना और उपासना

## (1) स्तुति

स्तुति शब्द प्रशंसा के अर्थ में आता है। जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही वर्णन करना स्तुति और उससे विपरीत वर्णन करना निन्दा कहलाती है, जैसाकि कहा है – **गुणेषु दोषारोपणमसूया, दोषेषुगुणारोपणमसूया, गुणेषु गुणारोपण दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः।**

गुण को दोष और दोष को गुण बताना निन्दा है। गुण को गुण तथा दोष को दोष बताना स्तुति कहलाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यथार्थ गुणकीर्तन को ही स्तुति कहते हैं। सगुण और निर्गुण भेद से स्तुति दो प्रकार की है। किसी पदार्थ में विद्यमान गुणों का यदि वर्णन किया जाए तो यह उसकी सगुण स्तुति होगी। इसके विपरीत किसी पदार्थ में न पाये जाने वाले गुणों का वर्णन उसकी निर्गुण स्तुति कहलायेगी।

**ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा न्यायकारी है–ऐसा कहना ईश्वर की सगुण स्तुति है। क्योंकि इससे ईश्वर में पाये जाने वाले गुणों का बोध होता है। इसके विपरीत ईश्वर में न पाई जाने वाली बातों का वर्णन अर्थात् उसको अनादि, निर्विकार, पापरहित तथा शरीर रहित आदि बताना उसकी निर्गुण स्तुति है। ईश्वर की दोनों प्रकार की स्तुति वेदों तथा उपनिषदों में पाई जाती है।**

**य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः**

–यजु० 25-23

जो शरीर से आत्मा का मेल कराने वाला तथा बल का देने वाला है, सब विद्वान् जिसकी उपासना करते और जिसकी शिक्षा को मानते हैं।

यह ईश्वर की सगुण स्तुति है, क्योंकि इसमें ईश्वर में पाए जाने वाले गुणों का वर्णन है। इसके विपरीत–

**अशब्दमस्पर्शरूपमव्ययं** –कठो० 1.3.5

वह परमात्मा शब्दरहित, स्पर्शरहित तथा नाशरहित है।

यह ईश्वर की निर्गुण स्तुति है, क्योंकि इसमें ईश्वर में न पाये जाने वाले गुणों का निरूपण है ।

**स्तुति का फल–**

बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि स्तुति करने से ईश्वर प्रसन्न होकर हमारी मनोकामनाएँ पूर्ण कर देगा । यह विचारधारा मूर्खतापूर्ण है । क्या ईश्वर खुशामद पसन्द है कि प्रशंसा से प्रसन्न होकर किसी को निहाल कर दे अथवा निन्दा से अप्रसन्न होकर किसी का विनाश कर दे? ईश्वर न प्रशंसा से प्रसन्न और निन्दा से अप्रसन्न होता है । बहुत से लोग ईश्वर को गालियां दिया करते हैं तो क्या ईश्वर क्रुद्ध होकर उनका नाश कर देता है? नहीं वह तो सब काल सब पर दया करता है ।

जैसा कि 'दयालु' शब्द की व्याख्या करते हुए पहले बता चुके हैं कि यदि वह दुष्टों को उनके पाप कर्मों का दंड देता है तो वह भी उसकी दया ही है । प्रशंसा से प्रसन्न और निन्दा से अप्रसन्न होना मनुष्यों का स्वभाव है, ईश्वर का नहीं । अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब ईश्वर स्तुति से प्रसन्न ही नहीं होता तो उसकी स्तुति क्यों की जाए? इसका उत्तर यह है कि स्तुति का फल और ही है, जैसा लोग समझते हैं वह नहीं है ।

स्तुति करने से ईश्वर के गुणों का ज्ञान होता है और उसके प्रति प्रेम की उद्भूति होती है तथा उन गुणों को अपने में धारण करने की रुचि उत्पन्न होती है । ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव से परिचित होकर यदि हम अपने गुण, कर्म, स्वभाव नहीं सुधारते अर्थात् ईश्वरीय गुणों के अनुकूल अपने को नहीं बनाते तो स्तुति का कोई लाभ नहीं है । स्तुति का लाभ तभी है जब हम ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव को जानकर उसके अनुसार अपने गुण, कर्म, स्वभाव में सुधार करें ।

स्तुति का यही फल स्वामी दयानंद सरस्वती जी महाराज ने 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम समुल्लास में प्रकट किया है जो बुद्धयनुकूल होने से सर्वथा माननीय है ।

## (2) प्रार्थना

प्रार्थना शब्द का अर्थ है याचना अर्थात् मांगना । मांगा उसी से जाता है जो देने की सामर्थ्य रखता हो । ईश्वर देने की सामर्थ्य रखता है, इसलिए उसी से मांगा जाना योग्य है । संसार के लोग यदि कोई वस्तु किसी को देते हैं तो वह ईश्वर की ही दी हुई होती है । इसलिए संसार के लोगों से न माँगकर ईश्वर से ही माँगना चाहिए । जो सब को देने वाला है उसी से माँगना उचित है, जो स्वयं दूसरे से लेता है उससे मांगना मूर्खता है ।

संसार में हम प्रायः देखते हैं कि यदि कोई किसी का कुछ उपकार करता है तो वह उसका प्रतिफल अर्थात् बदला चाहता है । संसारी लोगों का दान किसी न किसी स्वार्थ को लिये होता है । परन्तु ईश्वर के दान में स्वार्थ को स्थान नहीं । ईश्वर सब जीवों पर सदा उपकार ही करता है और बदले में किसी से कुछ नहीं चाहता । स्तुति के समान प्रार्थना भी सगुण और निर्गुण भेद से दो प्रकार की है ।

यदि किसी वस्तु अथवा गुण की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाती है तो वह सगुण प्रार्थना कहलाती है । जैसे–

**तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसिवीर्यमयि धेहि । बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि । मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ।** –यजुर्वेद 19.9

हे परमात्मन् ! आप तेजस्वरूप हैं, मुझ में भी तेज स्थापन कीजिए । आप पराक्रमशाली हैं, मुझको भी पराक्रमयुक्त कीजिए । आप अनन्त बल वाले हैं, मुझको भी बल प्रदान कीजिए । आप अत्यन्त ओजस्वी हैं, मुझको भी ओजस्वी बनाइये । आप दुष्टों पर क्रोध करने वाले हैं, मुझको भी वैसा ही बनाइये । आप सहनशील हैं,

मुझको भी सहनशीलता प्रदान कीजिए। इसके विपरीत यदि किसी दोष अथवा दुर्गुण से बचने की प्रार्थना की जाए तो वह निर्गुण प्रार्थना कहलायेगी जैसे–

**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनोभूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम**

–यजुर्वेद 40.16

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप हमसे कुटिलतारूप पापाचरण को पृथक् रखिये ताकि हम आपकी बहुत सी स्तुति करें। इसमें जो कुटिलतारूप पापाचरण से पृथक रहने की प्रार्थना की गई है यह निर्गुण प्रार्थना है।

प्रार्थना के संबंध में दो बातें सदा स्मरण रखनी चाहियें। एक तो यह कि प्रार्थना अनुचित न हो, उचित हो। दूसरे यह कि प्रार्थना पुरुषार्थसहित होनी चाहिए। पुरुषार्थरहित प्रार्थना कभी स्वीकार नहीं होती। अब यदि कोई कहे कि जब पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्ध होते हैं तो फिर प्रार्थना का क्या लाभ है? इसका उत्तर यह है कि प्रार्थना का अपना लाभ है। प्रार्थना करने से अभिमान का नाश, सहायता प्राप्ति और उत्साह वृद्धि होती है। परमात्मा की ओर से सहायता प्राप्त होना प्रार्थना का दूसरा लाभ है। जब कोई मनुष्य किसी शुभ कार्य के लिए पूर्ण पुरुषार्थ करता है और साथ ही ईश्वर से प्रार्थना भी करता है तो उत्साह स्वयंमेव बढ़ जाता है। उत्साहवृद्धि प्रार्थना का तीसरा फल है।

प्रार्थना का एक यह भी अर्थ है प्रभु का धन्यवाद करना जो कुछ भी मिला है उसके लिए प्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना और जो नहीं मिला है उसके लिए गिला न करना। जैसे स्वामी शिवानंद लिखते हैं–

**Prayer is not asking, prayer is communion with God through single-minded devotion .....Prayer is thanks giving to God for all his blessings.** –Bliss Divind P-440

प्रार्थना कोई मांग नहीं है । प्रार्थना प्रभु के प्रति अनन्य भक्ति है । प्रार्थना प्रभु द्वारा दिये गये आशीर्वादों के लिए उसका धन्यवाद करना है ।

इसके अतिरिक्त प्रार्थना का एक यह भी अर्थ है कि संसार के सब व्यक्तियों के कल्याण एवं परोपकार के लिए प्रार्थना करना । इसके विषय में मैं आपकी सेवा में वेदों के निम्नलिखित दो मंत्र प्रस्तुत करना चाहता हूँ । इन मंत्रों में साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर सारे संसार के लोगों के कल्याण की कामना की गई है–

**ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि ।**

**धियो यो नः प्रचोदयात् । ।** –यजुर्वेद 36.3

हे प्रभु ! आप सर्वरक्षक, प्राणाधार, सुखस्वरूप, दुःखनाशक, सत्-चित्-आनंद स्वरूप हैं । आप ही सृष्टि के उत्पादक, पालक, संहारक, वेदज्ञानदाता एवं कर्मफल दाता हैं । हम आपके प्रेरणादायक, शुद्धस्वरूप, वरणीय, परमपवित्र, दिव्यस्वरूप का हृदयमंदिर में ध्यान धरते हैं । आप हमारी बुद्धियों को कृपया श्रेष्ठ मार्ग की ओर प्रेरित कीजिए ।

**ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।**

**यद्भद्रं तन्नऽआसुव । ।** –यजुर्वेद 30.3

हे प्रभु ! आप कृपया हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिए और जो कल्याणकारी गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं वे हमें प्राप्त कराइये ।

इन दो मंत्रों में मानवता के कल्याण एवं परोपकार के लिए निःस्वार्थभाव से प्रार्थना की गई है । यह भी सच्ची प्रार्थना है । परन्तु जो हमें मिला है उसे हम भूल जाते हैं । जो नहीं मिला है उसके लिए गिला करते हैं जैसे एक कवि के शब्दों में –

**उसने मुझे बहुत कुछ दिया । मैंने उसका धन्यवाद न किया । ।**

मुख्यतः व्यक्ति धार्मिक स्थानों में जाकर प्रार्थना नहीं करते अपितु भिखारियों की भाँति अपनी-अपनी मांगों की सूची परमात्मा

के आगे रखते हैं । मैंने धार्मिक स्थानों पर भिखारियों की पंक्तियाँ देखी हैं जोकि अपनी-अपनी मांगें मांगते हैं । परन्तु प्रभु का धन्यवाद करने वाला कोई बिरला ही होता हैं माँगने के निम्नलिखित तीन अर्थ हैं–

**(1) प्रभु से शिकायत करना :–** आप प्रभु से शिकायत करते हो कि मुझे ये नहीं मिला है और वह नहीं मिला है । जो कुछ भी आप को मिला है उससे आप संतुष्ट नहीं हो । सदा प्रभु का धन्यवाद करते रहो अर्ज प्रभु से ही करो, अपना फर्ज पूरा करो, कर्ज सिर पर न रहे और मर्ज शरीर में न रहे । ताकि आप प्रभु की निरन्तर निष्काम अनन्य भक्ति करके आनंद प्राप्त कर सकें । जैसे एक उर्दूशायर ने लिखा है–

**मुसीबत हो कि राहत हो, नहीं लाज़िम गिला करना ।**

**बशर का फ़र्ज़ है हर हाल में शुक्रे ख़ुदा करना । ।**

इसी प्रकार एक और उर्दू शायर के शब्दों में–

**सब्र और शुक्र करो खुश रहो जिस हाल में हौ ।**

**इसको ही हर दर्द की दुनियाँ में दवा कहते हैं । ।**

**(2) सलाह देना :–** मांगने का यह भी अर्थ है कि आप स्वयं को प्रभु से अधिक बुद्धिमान समझते हो कि मुझे यह भी देना चाहिए था ।

**(3) प्रभु के अन्तर्यामी होने पर संदेह करना :–** परमात्मा अन्तर्यामी है । इसलिये वही जानता है कि आपके लिए कौन सी वस्तु अच्छी है या बुरी । वही हमारा माता-पिता है । जैसे एक माता के चार पुत्र हैं । एक परीक्षा देने जा रहा है तो वह उसको घी के मालपूड़े बना कर देती है ताकि उसका ज्ञान और स्मरणशक्ति बनी रहे और वह परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त कर सके । दूसरा पुत्र खेत में सब्जी लगाने जा रहा है उसे वह प्याज की सब्जी से भोजन करवाती है ताकि उसको कही लू न लग जाये । तीसरे पुत्र का पेट खराब है इसलिये वह उसे खिचड़ी खिलाती है ताकि उसका पेट ठीक रहे । चौथा पुत्र बीमार

है तो वह उसको दवा देती है ताकि वह स्वस्थ हो जाये। इसी प्रकार परमात्मा हमारा माता-पिता होने के कारण हमें वही वस्तु देता है जो हमारे लिए हितकारी हो। जैसे एक उर्दू शायर ने लिखा है :–

**न मैं यह चाहता हूँ न वो चाहता हूँ।**

**फकत अपने रब्ब की रजा चाहता हूँ।।**

## (3) उपासना

उपासना शब्द का अर्थ है पास बैठना अर्थात् समीप होना। जीव और ईश्वर का व्याप्य व्यापक संबंध होने से ईश्वर जीव से न कभी दूर था न है और न होगा। परन्तु जब तक जीव यह नहीं जानता कि परमात्मा मुझ में व्यापक है और अपने भीतर उसका अनुभव नहीं करता तब तक परमात्मा पास रहता हुआ भी उससे दूर है। जीव और ईश्वर में फासले की दूरी नहीं, परन्तु ज्ञान की दूरी है। जब तक अज्ञान नहीं मिटता और ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक सांसारिक दुःखों से छुटकारा नहीं होता। ज्ञान को ही वेद मुक्ति का साधन बताता है। जैसा कि कहा है–

**विद्यया अमृतमश्नुते** –यजु० 40.14

विद्या (ज्ञान) से ही अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करता है। उपासना द्वारा अज्ञान का नाश और ज्ञान की वृद्धि होती है, इसलिए उपासना को मुक्ति का साधन मानना उपयुक्त है। स्तुति और प्रार्थना के समान उपासना भी दो प्रकार की होती है। ईश्वरी गुणों को अपने में धारण करना सगुण उपासना कहलाती है जैसे ईश्वर न्यायकारी और सत्यस्वरूप है। स्वयं भी वैसा बनने का प्रयत्न करना ईश्वर की सगुण उपासना है।

अनीश्वरीय गुणों से अपने को पृथक् रखने का प्रयत्न ईश्वर की निर्गुण उपासना कहलाती है जैसे ईश्वर पापरहित तथा

क्लेशरहित है, स्वयं भी वैसा बनने की चेष्टा करना अर्थात् पापों और क्लेशों से अपने को दूर रखना ईश्वर की निर्गुण उपासना है ।

**उपासना का फल–**

उपासना से ईश्वर का साक्षात्, दुःखों का नाश तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है । मन तथा इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर से जाने से हटाकर ईश्वर के ध्यान में लग जाने का नाम उपासना है । इसी को योग कहते हैं । योग शब्द 'युज' धातु से सिद्ध होता है जिसका अर्थ है मिलाना अथवा जोड़ना । ईश्वर से अपने-आप को जोड़ना तभी सम्भव है जब सांसारिक विषयों की ओर से चित्त और इन्द्रियों को हटा लिया जाये । महर्षि पतंजलि योगदर्शन में योग का लक्षण करते हुए लिखते हैं –

**योगश्चितवृत्तिनिरोधः** –योगदर्शन समाधिपाद सू० 2

चित्त की वृत्तियों के रोक लेने का नाम योग है ।

प्रमाण, विपर्य्य, विकल्प, निद्रा और स्मृति यह पाँच चित्त की वृत्तियाँ योगदर्शन में बताई गई हैं ।

**चित्त की पहली वृत्ति प्रमाण**

महर्षि पतंजलि योगदर्शन में प्रमाण का वर्णन करते हुए लिखते हैं ।

**प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि** –योग समाधि सू० 7

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यह तीन प्रकार की चित्त की प्रमाणवृत्ति कहलाती है ।

चित्त और इन्द्रियों का बाह्य विषयों से संयोग होने पर जो निर्भ्रान्त ज्ञान उत्पन्न हो उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होने के पश्चात् जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको 'अनुमान' कहते हैं, जैसे धूप को देखकर कार्य का अनुमान 'पूर्ववत' कहलाता है जैसे बादलों को घिरा हुआ देखकर होने वाली वर्षा का अनुमान । कार्य को देखकर कारण का अनुमान 'शेषवत् अनुमान' कहलाता है । जैसे धुआं उठता देखकर उसके कारण अर्थात् अग्नि का

अनुमान। वेदों अथवा आप्त पुरुषों के शब्द से जो ज्ञान प्राप्त हो उसको आगम कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम वह तीन प्रकार की चित्त की प्रमाण वृत्ति कहलाती हैं।

**चित्त की दूसरी वृत्ति विपर्य्य**

विपर्य्य का लक्षण करते हुए महर्षि पतंजलि लिखते हैं–

**विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्** –योग समाधि 8

मिथ्या ज्ञान को जो यथार्थरूप में प्रतिष्ठित न हो –'विपर्य्य' कहते हैं। इसको दूसरे शब्दों में यूं भी कह सकते हैं कि जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा न जानकर किसी और प्रकार का जानना 'विपर्य्य' अथवा विपरीत ज्ञान कहलाता है। यह चित्त की दूसरी वृत्ति है।

**चित्त की तीसरी वृत्ति विकल्प**

विकल्प के संबंध में योगदर्शन में लिखा है–

**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** –योग० समाधि० 9

शब्द ज्ञान के पीछे उत्पन्न होने वाले वस्तुशून्य ज्ञान को 'विकल्प' कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसमें वस्तु का तो अभाव अर्थात् वस्तु का न हो, केवल शब्द को सुनकर जो ज्ञान उत्पन्न हो उसका नाम विकल्प है। जैसे कोई कहे कि मृग तृष्णा के जल में स्नान करके, आकाशकुसुम की माला पहने, हाथ में खरगोश के सींग का धनुष लिये बन्ध्या का पुत्र जाता है। यहाँ वास्तव में वस्तु कोई नहीं हैं, केवल शब्द के सुनने से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ऐसे ज्ञान को 'विकल्प' कहते हैं। विपर्य्य में वस्तु होती है उसको उल्टे रूप में देखता है। विकल्प में वस्तु कोई नहीं होती, केवल शब्दजाल से उत्पन्न होने वाला ज्ञान होता है। इसको काल्पनिक ज्ञान भी कह सकते हैं। यह चित्त तीसरी वृत्ति है।

**चित्त की चौथी वृत्ति - निद्रा**

निद्रा के विषय में योगदर्शन का सूत्र है–

**अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा** –योग समाधि 10

जो वृत्ति ज्ञान के अभाव को आश्रित करे अर्थात् जिसमें ज्ञान का अभाव हो उसको निद्रा कहते हैं। यह चित्त की चौथी वृत्ति है। यहाँ निद्रा से अभिप्राय सुषुप्ति से है।

**चित्त की पांचवी वृत्ति स्मृति**

स्मृति का लक्षण योगदर्शन में इस प्रकार किया है–

**अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः** –योग समाधि 11

अनुभव किये हुए विषयों का चित्त से न खोया जाना अर्थात् नष्ट होना, स्मृति कहलाती है। यह चित्त की पांचवी वृत्ति है। चित्त की इन पांचों वृत्तियों के रोक लेने वाले को ही योगी कहते हैं। यहाँ रोक लेने से अभिप्राय इन पर नियंत्रण करने से है। चित्तवृत्ति निरोध काल में योगी की क्या अवस्था होती है, इस विषय में योगदर्शन का सूत्र है–

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।** –योग० समाधि० 3

उस समय द्रष्टा अर्थात् जीवात्मा की स्वरूप में स्थिति होती है।

जब चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता तब आत्मा की क्या दशा होती है, इस विषय में योगदर्शन कहता है–

**वृत्तिसारूप्यमितरत्र।** –योग०समाधि० 4

चित्तवृत्तियों का निरोध न होने की दशा में आत्मा का स्वरूप वृत्ति के समान होता है अर्थात् जैसी चित्त की वृत्ति होती है वैसा स्वरूप आत्मा का दिखाई देता है।

**चित्त वृत्तियों के निरोध का उपाय**

पांचों प्रकार की चित्तवृत्तियों पर कैसे नियन्त्रण किया जाए, इस विषय में योगदर्शन का सूत्र है–

**अभ्यासवैराग्यभ्यां तन्निरोधः।** –योग०समाधि० 12

अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। महर्षि वेदव्यास भी योगदर्शन के आधार पर ही अभ्यास और वैराग्य

को मन के वश में करने का साधन मानते हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण महाराज से प्रश्न करता है–

**चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।**
**तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।** –गीता 6.34

हे कृष्ण! मन बड़ा चंचल, मंथन करने वाला, बलवान तथा दृढ़ है। उसका वश में करना वायु के समान अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ। श्रीकृष्ण महाराज उत्तर देते हैं–

**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।**
**अभ्याससेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।** –गीता 6.35

हे महाबाहु! निस्संदेह मन बड़ा चंचल तथा कठिनता से वश में आने वाला है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा इस पर नियंत्रण होता है। अभ्यास के स्वरूप को प्रकट करते हुए गीता में लिखा है–

**यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।**
**ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।** –गीता 6.26

जिस-जिस कारण से यह चंचल और अस्थिर मन विषयों में विचरता है उस-उस कारण से इसको हटाकर आत्मा के ही वश में लायें। इसमें संदेह नहीं कि अभ्यास द्वारा चित्त की वृत्तियों पर नियंत्रण होता है, परन्तु यदि वैराग्य उत्पन्न हो जाए तो क्या बात है। वैराग्य के उत्पन्न होने पर चित्तवृत्तियों स्वयंमेव शान्त होती चली जाती हैं। महर्षि व्यास योगदर्शन का भाष्य करते हुए लिखते हैं– **'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्'** (1-16) अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा को ही वैराग्य कहते हैं।

वास्तव में वैराग्य उत्पन्न हुए बिना मुक्ति नहीं होती। वैराग्य द्वारा चित्त की वृत्तियों का सरलतापूर्वक निरोध होता है। अभ्यास और वैराग्य को क्रियात्मक रूप देने के लिए योगदर्शन में आठ उपाय बताए गए हैं। यह अष्टांग योग के नाम से प्रसिद्ध हैं जोकि इस प्रकार से हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान

और समाधि ।

## (1) यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह - यह पांच यम कहलाते हैं ।

**(1) अहिंसा** :– अहिंसा की व्याख्या करते हुए महर्षि व्यास योगदर्शन के भाष्य में लिखते हैं–

**तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ।**

सब प्रकार से सदा ही सब प्राणियों के प्रति द्रोह की भावना अहिंसा कहलाती है । दूसरे शब्दों में वैर त्याग को अहिंसा कहते हैं । अहिंसा का यह अर्थ कदापि नहीं है कि कोई अत्याचार करता रहे तुम सहन करते रहो । यह अहिंसा नहीं, यह तो मुर्दापन है । मृत शरीर पर कोई कितना प्रहार करता रहे वह कोई प्रतिकार नहीं करता । इसी प्रकार जो मनुष्य चुपचाप अत्याचार सह लेता है वह मृत नहीं तो और क्या है ? वैदिक धर्म में अत्याचार सहने का नहीं, किन्तु अत्याचारी को दंड देने का विधान है जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से प्रकट होता है ।

**गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।**
**आततायिनमायान्तुं हन्यादेवाविचारयन् ।।** मनु० 8.35

गुरु हो, बालक हो, वृद्ध हो, ब्राह्मण हो अथवा बहुश्रुत ही क्यों न हो–यदि आततायी के रूप में अत्याचार करने अथवा मारने के लिए आ रहा है तो उसको बिना सोचे-समझे मार ही देना चाहिए । इसलिए अहिंसा का वही अर्थ ठीक है जो हमने ऊपर बताया ।

**(2) सत्य** :– जैसा देखा है, सुना है अथवा अनुमान किया है, उसी के अनुसार यदि मन और वाणी का व्यवहार हो तो यह सत्य कहलाता है । कहने का तात्पर्य यह कि जैसा ज्ञान मन में है वैसा ही वाणी से कहना और उसी के अनुसार व्यवहार करना सत्य का पालन है ।

**(3) अस्तेय** :– चोरी न करने को अस्तेय कहते हैं । पराया धन, पराई सम्पत्ति अथवा पराई स्त्री को लेने की चेष्टा करना चोरी है । इनसे बचना 'अस्तेय' कहलाता है ।

**(4) ब्रह्मचर्य** :– गुप्तेन्द्रिय का पूर्णरूप से संयम अर्थात् आठों प्रकार के मैथुनों का त्याग – दर्शन, स्पर्शन, स्मरण, क्रीड़ा, कीर्तन, एकान्तवास, गुह्यभाषण, क्रियानिवृत्ति ब्रह्मचर्य कहलाता है ।

**(5) अपरिग्रह** :– भोग साधनों के स्वीकार न करने को 'अपरिग्रह' कहते हैं । दूसरे शब्दों में यूं भी कह सकते हैं कि सांसारिक पदार्थों के संग्रह न करने का नाम अपरिग्रह है ।

## (2) नियम

इस विषय में योगदर्शन का सूत्र है– शौचसन्तोषतपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः योगः समाधि-32 (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) यह पांच नियम कहलाते हैं ।

**(1) शौच** : – शौच दो प्रकार का है–बाह्य और आभ्यांतर । जल, मृत्तिका आदि से शरीर को शुद्ध करना बाह्य शौच कहलाता है । राग, द्वेष आदि मलों से चित्त को रहित करना भीतरी शौच है । जो शौच का पालन करता है उसको अपने अंगों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है और वह दूसरों के संसर्ग से भी दूर होकर रहना चाहता है । कहने का तात्पर्य यह है कि नित्य शरीर को शुद्ध करते रहने पर भी जब वह शरीर की शुद्धि नहीं देखता तो उसको अपने अंगों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और जिसको अपने अंगों से वैराग्य हो गया फिर दूसरों के संसर्ग में क्या रुचि रहेगी ।

**(2) सन्तोष** :–साधनों के समीप रहते हुए भी अधिक प्राप्ति की इच्छा न होना सन्तोष कहलाता है । दूसरे शब्दों में इसको यूं कह सकते हैं कि जैसी भी अवस्था हो उसमें प्रसन्न रहने का नाम 'सन्तोष' है । सन्तोष का फल बताते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं– **सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः** अर्थात् सन्तोष से अनुत्तम (जिससे उत्तम

और कोई न हो) सुख की प्राप्ति होती है ।

**(3) तप** :– क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहन करने का नाम तप है । तप का फल योगदर्शन में इस प्रकार बताया है– **कायेन्द्रियसिद्धिशुद्धिक्षयात्तपसः** योगदर्शन 2.43 अर्थात् तप द्वारा अशुद्धि का नाश होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है ।

**(4) स्वाध्याय** :– मोक्षविषयक वेद आदि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना अथवा ओंकार का जप 'स्वाध्याय' कहलाता है । स्वाध्याय का लाभ महर्षि पतंजलि इस प्रकार बताते हैं– **स्वाध्यायादिष्ट देवतासंप्रयोगः** योग साधना-44 स्वाध्याय से इष्टदेवता अर्थात् परमात्मा से योग होता है ।

**(5) ईश्वर प्रणिधान** :– अपने समस्त कर्म परमगुरु परमात्मा को अर्पण कर देना अर्थात् फल की इच्छा का त्याग कर निष्काम भाव से कर्म करना ''ईश्वर प्रणिधान'' कहलाता है । जैसे–

**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।**
**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।** गीता 5/10

अपने समस्त कर्म ब्रह्म को अर्पण करके, फल की आसक्ति से रहित होकर जो कर्म करता है, वह पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे पानी में रहते हुए कमल का पत्ता । ईश्वर प्रणिधान का फल बताते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं– **समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ।** योगदर्शन 2/45 अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है ।

## (3) आसन

आसन के विषय में योगदर्शन का सूत्र है– **स्थिरसुखमासनम्** योगदर्शन 2-46 अर्थात् जो स्थिर तथा सुखकारी हो उसको आसन कहते हैं । आसन नाम बैठने का है । पद्मासन, दंडासन, स्वस्तिकासन आदि अनेक आसनों का प्रयोग योगी लोग करते हैं ।

प्रत्येक आसन में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह स्थिर हो अर्थात् उसमें शरीरकम्प आदि न हो तथा सुखकारी हो अर्थात् उद्वेग उत्पन्न करने वाला न हो। जैसे–

**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।**
**नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।**
**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।**
**उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।** –गीता 6/11-12

जो न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा हो, जिसमें नीचे कुश, उसके ऊपर मृगछाला तथा उसके ऊपर वस्त्र बिछा हुआ हो–पवित्र स्थान पर अपना ऐसा स्थिर आसन स्थापित करके उसके ऊपर बैठकर मन को एकाग्र करके इन्द्रियों और चित्त की क्रिया पर नियंत्रण रखता हुआ आत्मशुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे। आसन का लाभ बताते हुए महर्षि पतंजति कहते हैं– **ततो द्वन्द्वानभिघातः** योगदर्शन 2-48 आसन के सिद्ध होने से क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्व योगी को नहीं सताते।

## (4) प्राणायाम

इसमें योगदर्शन का सूत्र है– **तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयो गतिविच्छेदः प्राणायामः** अर्थात् आसन के होते हुए श्वास प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम कहलाता है। बाहर की वायु के भीतर खींचने को श्वास कहते हैं तथा भीतर की वायु के बाहर फेंकने का नाम प्रश्वास है। इन दोनों की गति के रोकने को प्राणायाम कहते हैं। यह प्राणायाम बाह्य, आभ्यन्तर, स्तम्भवृत्ति तथा बाह्याभ्यन्तराक्षेपी भेद से चार प्रकार का है। बाह्यवृत्ति में प्रश्वासपूर्वक गति का अभाव किया जाता है, वह बाह्य है इसको 'रेचक' भी कहते हैं। जिसमें श्वासपूर्वक गति का अभाव होता है वह आभ्यन्तर है। इसको 'पूरक' भी कहते हैं। जिसमें दोनों का अभाव हो वह स्तम्भवृति है।

इसको 'कुम्भक' प्राणायाम भी कहते हैं। जब प्राण बाहर से भीतर की ओर जाने लगे तो उसे भीतर से बाहर की ओर धकेलना और जब भीतर से बाहर की ओर आने लगे तो उसे बाहर से भीतर की ओर धक्का देना बाह्याभ्यन्तराक्षेपी प्राणायाम कहलाता है। इस प्रकार विरोधी क्रिया करने से श्वास-प्रश्वास दोनों की गति का अभाव हो जाता है।

**प्राणायाम का फल :**

प्राणायाम का फल बताते हुए महर्षि पतंजलि योगदर्शन में कहते हैं—**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्** योगदर्शन साधनापाद 52 अर्थात् उस चतुर्विध प्राणायाम से ज्ञान के ऊपर जो अविद्या का आवरण पड़ा हुआ है वह नष्ट हो जाता है। **धारणासु च योग्यता मनसः** अर्थात् धारणा में मन की योग्यता हो जाती है अर्थात् मन इस योग्य हो जाता है कि जिस देश में लगाया जाता है स्थिर हो जाता है। जैसे—

**दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।**
**तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।** —मनु० 6.8

जिस प्रकार सुवर्ण आदि धातुओं को अग्नि में तपाने से उनके मल नष्ट होकर वह शुद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणों का निग्रह करने से इन्द्रियों के दोष जलकर भस्म हो जाते हैं।

## (5) प्रत्याहार

प्रत्याहार का लक्षण योगदर्शन में इस प्रकार किया है—

**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तत्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।।**

—योग० साधन० 54

इन्द्रियों को अपने विषयों के संयोग से रहित होकर चितस्वरूप के अनुकूल हो जाना 'प्रत्याहार' कहलाता है। इसका अभिप्राय है कि निरुद्ध चित्त के समान इन्द्रियां भी निरुद्ध हो जाती हैं अर्थात् विषयों में जाने से रुक जाती हैं। इसको दूसरे शब्दों में यूं भी कह सकते हैं कि इन्द्रियों को विषयरूपी आहार न देने का नाम प्रत्याहार है। जैसे—

**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।**
**रसवर्जं रसोऽप्यस्यपरं दृष्टवा निवर्तते ।।** —गीता 2.59

इन्द्रियों को विषय रूपी आहार न देने वाले पुरुष के विषय में निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु विषयों की चाह रह जाती है । यह चाह भी परमात्मा का साक्षात् करके समाप्त हो जाती है ।

**प्रत्याहार का फल—**

प्रत्याहार का फल बताते हुए योगदर्शन कहता है— **ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्** साधनपाद-55 अर्थात् प्रत्याहार से इन्द्रियां परमावश्यता को प्राप्त होती हैं अर्थात् अच्छी प्रकार वश में हो जाती हैं । विषयों के सामने रहते हुए भी इन्द्रियां फिर विषयों में गमन नहीं करती । वह पूर्णरूप से योगी के अधीन हो जाती हैं ।

## (6) धारणा

धारणा के विषय में योगदर्शन का सूत्र है—**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।** विभूतिपाद 1 अर्थात् चित्त का किसी देश विशेष में बांधना धारणा कहलाती है । अतः नाभिचक्र में, मस्तक में, नासिकाग्र में अथवा किसी बाह्यविषय में चित्त के एकाग्र कर लेने का नाम धारणा है ।

## (7) ध्यान

ध्यान का स्वरूप योगदर्शन में इस प्रकार बतलाया गया है— **तत्र प्रत्ययैकातानता ध्यानम्** विभूतिपाद-2 अर्थात् धारणा किए हुए विषय में ज्ञान की एकतानता (समान प्रवाह) को ध्यान कहते हैं । जिस विषय की धारणा की गई है, उसमें ज्ञान के समान प्रवाह का बना रहना 'ध्यान' कहलाता है । समान प्रवाह का अर्थ है कि केवल उसी चीज का ज्ञान होना, किसी अन्य ज्ञान का बीच में न होना ।

## (8) समाधि

समाधि का लक्षण करते हुए महर्षि पतंजलि योगदर्शन में कहते हैं — **तदेवार्थमात्रंनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः** विभूतिपाद-3

जिसमें केवल (व्येय) का ही आभास हो और स्वरूप की शून्यता सी हो, उसको 'समाधि' कहते हैं। समाधि काल में योगी केवल ब्रह्म का ही साक्षात् करता है और आनन्द में इतना मग्न होता है कि उसको स्वरूप का भी ज्ञान नहीं रहता अर्थात् अपने आपको भी भूल जाता है। उपासना के विषय में एक उर्दूशायर ने कितना सुन्दर लिखा है–

**इबादत (उपासना) करते हैं जो लोग जन्नत की तमन्ना में।**
**इबादत तो नहीं वो एक तरह की तिजारत (व्यापार) है।।**
**जो डर कर मारे दोज़ख़ से ख़ुदा का नाम लेते हैं।**
**इबादत क्या वो ख़ाली बुज़दिलाना एक हिकमत (उपाय) है।।**
**मगर जब शुक्रेनेमत में ज़बीं झुकती है बन्दे की।**
**वो सच्ची बन्दगी है एक शरीफाना इताअत (सेवा) है।।**

## लेखक द्वारा प्रकाशित एवं निःशुल्क वितरित पुस्तकों की सूची :–

1. रामचरितमानससार
2. गीतासार
3. उपनिषद्सार
4. सत्यार्थप्रकाशसार
5. भक्ति
6. सुखीजीवन
7. आत्मबोध
8. वेदवाणी
9. वैदिकसाहित्य
10. अमृतवाणी
11. महर्षि दयानंद
12. स्वामी विवेकानंद
13. शरणागति
14. वैदिक रामायण
15. क्या आप जानते हैं ?
16. शेर-ओ-शायरी

## लेखक द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की सूची :–

1. वैदिक उपनिषद्वाणी
2. वैदिक दर्शनवाणी
3. वैदिक महाभारत
4. वैदिक गीता
5. अमर धर्मग्रंथ
6. अमर नीतिग्रंथ
7. पुराणपरिचय
8. ईश्वरसिद्धि
9. राष्ट्रभाषा हिन्दी
10. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
11. महावीर हनुमान
12. योगिराज श्रीकृष्ण
13. आदिशंकराचार्य
14. आचार्य चाणक्य
15. दस गुरु
16. आर्यसमाज के महामानव
17. स्वामी रामतीर्थ
18. संस्कार
19. गीतांजलि
20. आर्यसमाज
21. ओ३म्
22. गायत्रीरहस्य
23. ज्ञानामृत
24. यज्ञ
25. संत
26. संतवाणी
27. सामान्य हिन्दी (भाग I-II)
    (सब कक्षाओं के लिये)
28. **Great Thoughts**
29. **General English (Part I to V)**
    **(For All Classes)**